हिंदी-गौरव-ग्रंथमाला—८९वाँ ग्रंथ

विचार-धारा

धीरेन्द्र वर्मा

प्रकाशक
साहित्य-भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद।

द्वितीय बार, सं० २००१
मूल्य ३॥)

मुद्रक :
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिंदी-साहित्य प्रेस, प्रयाग।

वक्तव्य

'विचार-धारा' गत बीस वर्षों में भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गए मेरे अधिकांश प्रकाशित लेखों का संग्रह मात्र है। लेखों को विषय के अनुसार पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया है। १९२१ से १९४१ तक की रचनाएँ होने के कारण लेखों की शैली आदि में पर्याप्त भेद मिलेगा। एकरूपता उपस्थित करने का प्रयत्न जान-बूझ कर नहीं किया गया। लेख रचना-क्रम के अनुसार वर्गीकृत नहीं हैं यद्यपि संयोगवश प्रथम लेख मेरी प्रारंभिक कृति है।

इस लेख-संग्रह का प्रकाशन हिंदी की एक मान्य सार्वजनिक संस्था ने इस कारण अस्वीकृत कर दिया कि इसके "हिंदी प्रचार" शीर्षक भाग में कुछ ऐसे विचार हैं जो इस संस्था के 'कर्ण-धार' की दृष्टि में संस्था की नीति के अनुकूल नहीं थे। साहित्य भवन के सौजन्य से इस आपत्ति-जनक अंश सहित यह संग्रह हिंदी पाठकों के सन्मुख उपस्थित है।

मेरे प्रिय विद्यार्थी श्री उमाशंकर शुक्ल ने पुस्तक के प्रूफ़ देखने का कष्ट उठाया इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

हिंदी विभाग,
विश्वविद्यालय, प्रयाग

धीरेन्द्र वर्मा

प्रकाशक :
साहित्य-भवन लिमिटेड,
इलाहाबाद ।

द्वितीय बार, सं० २००१
मूल्य २॥)

मुद्रक :
गिरिजाप्रसाद श्रीवास्तव,
हिंदी-साहित्य प्रेस, प्रयाग ।

वक्तव्य

'विचार-धारा' गत बीस वर्षों में भिन्न-भिन्न विषयों पर लिखे गए मेरे अधिकांश प्रकाशित लेखों का संग्रह मात्र है। लेखों को विषय के अनुसार पाँच भागों में विभक्त कर दिया गया है। १६२१ से १६४१ तक की रचनाएँ होने के कारण लेखों की शैली आदि में पर्याप्त भेद मिलेगा। एकरूपता उपस्थित करने का प्रयत्न जान-बूझ कर नहीं किया गया। लेख रचना-क्रम के अनुसार वर्गीकृत नहीं हैं यद्यपि संयोगवश प्रथम लेख मेरी प्रारंभिक कृति है।

इस लेख-संग्रह का प्रकाशन हिंदी की एक मान्य सार्वजनिक संस्था ने इस कारण अस्वीकृत कर दिया कि इसके "हिंदी प्रचार" शीर्षक भाग में कुछ ऐसे विचार हैं जो इस संस्था के 'कर्ण-धार' की दृष्टि में संस्था की नीति के अनुकूल नहीं थे। साहित्य भवन के सौजन्य से इस आपत्ति-जनक अंश सहित यह संग्रह हिंदी पाठकों के सन्मुख उपस्थित है।

मेरे प्रिय विद्यार्थी श्री उमाशंकर शुक्ल ने पुस्तक के प्रूफ़ देखने का कष्ट उठाया इसके लिये मैं उनका आभारी हूँ।

हिंदी विभाग,
विश्वविद्यालय, प्रयाग

धीरेन्द्र वर्मा

'विचार-धारा' का दूसरा संस्करण प्रस्तुत करते हुए हमें बड़ी प्रसन्नता है, और आशा है जिस भाँति पाठकों तथा विद्वानों ने पूर्व संस्करण को अपनाया है उसी भाँति इसे भी अपनाकर हमारे उत्साह को बढ़ाएँगे।

पुरुषोत्तमदास टंडन
मंत्री
साहित्य भवन लि० प्रयाग।

विषय सूची

क—खोज

ख—हिंदी-प्रचार

ग—हिंदी साहित्य

घ—समाज तथा राजनीति

ङ—आलोचना तथा मिश्रित

क–खोज

विचार-धारा

१—मध्यदेश का विकास

मध्यदेश शब्द वेद की संहिताओं में कहीं नहीं आया। ऋग्वेद संहिता में मध्यदेश नाम का न आना कोई आश्चर्य की बात नहीं है, क्योंकि बाद को जो भूमिभाग मध्यदेश कहलाया, कुछ विद्वानों के मत में, वहाँ पर ऋग्वेद काल में समुद्र बह रहा था[१]। ऐतिहासिक मत के अनुसार ऋग्वेद काल में आर्यों का कर्मक्षेत्र पंजाब था[२]। वे सरस्वती नदी से पूर्व में अधिक नहीं बढ़े थे। ऋग्वेद में गंगा[३] का नाम केवल एक स्थान पर आता है। यजुर्वेद संहिता में 'काम्पील-वासिनी' अर्थात् कांपिल की रहने वाली, यह शब्द एक मंत्र में सुभद्रा नामक किसी स्त्री के लिये विशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ है[४]। कुछ यूरोपियन विद्वान समझते हैं कि यहाँ कांपिल्य नगर से अभिप्राय है जो बाद को दक्षिण पंचालों की राजधानी हुआ[५]। कांपील नगर फ़र्रुखाबाद के निकट गंगा के किनारे बसा था। इसका तात्पर्य यह है कि यजुर्वेद-काल में आर्य लोग कुछ और आगे बढ़ आये थे। अथर्ववेद संहिता में अंग और मगध के लोगों का नाम आया है[६] अर्थात् आर्य लोग उस समय तक प्रायः समस्त उत्तर भारत में फैल चुके थे। आश्चर्य है कि मध्यदेश शब्द अथर्ववेद संहिता में भी कहीं नहीं आता। ऐतिहासिक दृष्टि से सामवेद संहिता कुछ मूल्य नहीं रखती। इसका अधिकांश सोमयाग में गाने के लिये ऋग्वेद का संग्रह मात्र है।

---

(१) ऋग्वेदिक इण्डिया, भाग १, अध्याय १-४—अविनाशचंद्र दास।
(२) हिस्ट्री आव संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १४५—ए० ए० मैकडानेल।
(३) ऋग्वेद संहिता, १०, ७५, ५।
(४) शुक्ल यजुर्वेद संहिता, २३, १८।
(५) वैदिक इंडेक्स, भाग १, पृष्ठ १४९—मैकडानेल और कीथ।
(६) अथर्ववेद संहिता, ५, २२, १४।

मध्यदेश का द्योतक सबसे प्रथम वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण में मिलता है[1]। इस वर्णन से यह तो स्पष्ट ज्ञात होता है कि तात्पर्य मध्यदेश से ही है यद्यपि 'मध्यदेश' इन शब्दों का प्रयोग वहाँ भी नहीं हुआ है। यह वर्णन मध्यदेश नाम के शब्दार्थ को और देश विदेश के लिये प्रयोग करने के कारण को भी स्पष्ट करता है।

ऐतरेय ब्राह्मण के अंतिम भाग में कई प्रकार के राजाओं की अभिषेक-विधि दी है। इसी संबंध में ऐंद्र महाभिषेक का महत्व बताते हुए एक कथा दी गई है कि एक बार प्रजापति ने इन्द्र का अभिषेक किया और उसके बाद प्रत्येक दिशा के स्वामी ने भी अपनी-अपनी ओर से पृथक्-पृथक् अभिषेक किया। लिखा है कि अब भी इन दिशाओं के राजाओं के अभिषेक इस पूर्व पद्धति के अनुसार भिन्न-भिन्न प्रकार से होते हैं। पूर्व दिशा में प्राच्य लोगों के राजा अभिषिक्त होने पर अब भी सम्राट् कहलाते हैं। दक्षिण दिशा के सत्वत् लोगों के राजा भोज कहलाते हैं। पश्चिम दिशा के नीच्य व अपाच्य लोगों के राजा स्वराट् कहलाते हैं। उत्तर दिशा में हिमालय के परे उत्तर-कुरु और उत्तर-मद्र के जनपद विराट् कहलाते हैं। और "इस ध्रुव और प्रतिष्ठित मध्यम दिशा में जो ये कुरु-पंचालों और वश उशीनरों के राजा हैं इनका अभिषेक राज्य के लिये होता है और अभिषिक्त होने पर ये राजा कहलाते हैं।"

इस वर्णन से निम्नलिखित बातें स्पष्ट होती हैं। प्रथम मध्यदेश नाम अपने शब्दार्थ 'बीच का देश' में सब से पहले प्रयुक्त हुआ होगा। बीच से तात्पर्य आर्यों से बसे भूमिभाग अर्थात् आर्यावर्त्त के बीच के देश से है। यह आर्यावर्त्त मनुस्मृति के आर्यावर्त्त से छोटा रहा होगा। इसका प्रमाण भी सूत्र ग्रंथों में मिलता है। दूसरे, मध्यदेश संबंधवाची शब्द है, अतः ज्यों-ज्यों आर्यों के वासस्थान का विकास हुआ होगा त्यों-त्यों ही मध्यदेश से द्योतित भूमिभाग की सीमाएँ भी बढ़ती गई होंगी। यह बात भी आगे के प्रमाणों से प्रमाणित होती है[2]। तीसरे, उस समय मध्यदेश में निम्नलिखित लोग गिने

---

(१) ऐतरेय ब्राह्मण ३८, ३। मैकडानेल के मतानुसार ब्राह्मण ग्रंथों का समय लगभग वि० पू० ८५७ से वि० पू० ५५७ तक माना जा सकता है।

(२) मनुस्मृति, २. २२ "पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक और उन्हीं (अर्थात् हिमालय और

जाते थे—कुरु-पंचाल, वश और उशीनर। कुरु-पंचाल तो प्रसिद्ध ही हैं। वश और उशीनर मैकडानेल के मतानुसार कुरु लोगों से उत्तर की ओर हिमालय की तराई में बसते थे[1]। अतः ऐतरेय ब्राह्मण के समय में पश्चिम में प्रायः कुरुक्षेत्र से लेकर पूर्व में फ़र्रुख़ाबाद के निकट तक और उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में प्रायः चंबल नदी तक का[2] आर्यावर्त्त मध्य में गिना जाता था अर्थात् मध्य-देश कहलाता था।

मध्यदेश के चारों ओर के शेष आर्यावर्त्त का भी स्पष्ट वर्णन ऐतरेय ब्राह्मण के इस उद्धृत अंश में दिया ही है। यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा

विंध्य) पर्वतों के बीच के देश को विद्वान् लोग आर्यावर्त्त कहते हैं।" तथा बौधायन धर्मसूत्र, १, १, २, ६; वसिष्ठ धर्मसूत्र १, ८—"अदर्शन से पूर्व में, कालकवन से पश्चिम में, हिमालय से दक्षिण में और पारियात्र से उत्तर में आर्यावर्त्त है।"

इन्हीं सूत्रग्रन्थों में कुछ और भी मत दिये हैं जिनसे मालूम होता है कि मध्यदेश के समान आर्यावर्त्त का भी विकास हुआ। ऊपर दी हुई सीमाएँ तो मनुस्मृति के मध्यदेश से मिलती हैं। आगे कहा है कि कुछ के मत में गंगा और यमुना के बीच का देश आर्यावर्त्त है, कुछ के मत में विंध्य के उत्तर का सारा देश—यह मनुस्मृति के आर्यावर्त्त से मिलता है। कुछ लोगों का मत है कि जहाँ कृष्ण मृग घूमता है वह भूमिभाग आर्यावर्त्त है। जो हो आर्यावर्त्त के तीन रूप तो स्पष्ट ही हैं।

वसिष्ठ धर्मसूत्र में 'अदर्शन' के स्थान पर एक दूसरा पाठ 'आदर्शन' भी मिलता है। महाभाष्य में (सूत्र २, ४, १० के भाष्य पर) आर्यावर्त्त की पश्चिमी सीमा को 'आदर्श' लिखा है। बूलर का मत है (सेक्रेड बुक्स आव दी ईस्ट, भाग १४, पृष्ठ २) कि आदर्श सब से पुराना और शुद्ध पाठ है। आदर्श के अशुद्ध पाठ-क्रम से आदर्शन और अदर्शन हुए। बाद को अदर्शन अर्थ के वाचक विनशन शब्द का प्रयोग हो गया जो मध्यदेश की पश्चिमी सीमा मानी गई।

अदर्शन या विनशन से तात्पर्य सरस्वती नदी के रेगिस्तान में नष्ट होने के स्थान से है। यह पटियाला रियासत के दक्षिण में पड़ता है। आदर्श के संबंध में कई मत हैं। कुछ उसे मारवाड़ की संगमरमर की पहाड़ी बताते हैं और उसका विगड़ा हुआ रूप अरावली (आदर्शावलि) मानते हैं। कुछ पंजाब के सेंधे नमक के पर्वत को आदर्श पर्वत बताते हैं जो सिंधु और झेलम नदियों के बीच में है। कुछ आदर्श पर्वत को काँगड़े के निकट अनुमान करते हैं।

कालकवन के संबंध में भी कई मत हैं। कुछ कनखल के निकट कालकवन बताते हैं (इं० एं० भाग ३४ पृष्ठ १७९)। कुछ प्रयाग के निकट के प्राचीन वन को, जिसका उल्लेख रामायण में हुआ है (इं० एं० १९२१, पृष्ठ १२०, नोट २०); और कुछ राजगृह के निकट के वन को (कुंते—विसिसिट्यूड्स आव आरियन सिविलिजेशन इन इंडिया, पृष्ठ २८०)।

पारियात्र को प्रायः सब लोग विंध्य पर्वत का मालवा के निकट का भाग बताते हैं यद्यपि कुछ सिवालिक पर्वत को भी पारियात्र मानते हैं।

(१) वैदिक इंडेक्स, भाग १ के आरम्भ में दिया मानचित्र देखिए। इंडियन एंटिक्वेरी १९०५, पृष्ठ १७६ में कथासरित्सागर के आधार पर उशीरगिरि पर्वत को कनखल के उत्तर में गंगोत्री के निकट माना है। लेखक ने अनुमान किया है कि शब्द-साहश्य के आधार पर उशीनर लोगों का संबंध इस भूमिभाग से हो सकता है।

(२) पंचाल की दक्षिण सीमा महाभारत में चंबल नदी मानी गई है।

सकता कि पूर्व के सम्राटों से तात्पर्य अयोध्या और प्रतिष्ठानपुर के प्राचीन सूर्य और चंद्रवंशी महाराजाओं से है या ऐतिहासिक काल के मगध के सम्राटों से। दक्षिण दिशा में मालवा के भोज राजा तो निकट ऐतिहासिक समय में भी प्रसिद्ध रहे हैं। पश्चिम के नीच्य और अपाच्य लोगों के नाम वैदिक काल के बाद नहीं पाए जाते। हिमालय के परे उत्तर कुरु और उत्तर मद्र के जनपदों के नाम ऐतिहासिक काव्यों में[1] केवल कथारूप में मिलते हैं। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि जनपद शब्द केवल इन उत्तर के लोगों के लिये प्रयुक्त हुआ है और इनकी शासन-प्रणाली को विराट् अर्थात् बिना राजा की कहा गया है। हिमालय के उत्तर के देशों से निकट संबंध कदाचित् वैदिक काल के बाद बिलकुल बंद हो गया, अतः बाद को आर्यावर्त्त और मध्यदेश दोनों की उत्तरी सीमा हिमालय हो गई। यौगिक मध्यदेश शब्द धीरे-धीरे रूढ़ि शब्द हो गया। लौकिक व्यवहार में भी शब्दों के अर्थों में ऐसा हेरफेर अक्सर पाया जाता है। एक बार मँझला लड़का कहलाने पर वह सदा मँझला ही कहलाता है, चाहे कुछ समय के अनंतर उसका छोटा या बड़ा भाई न भी रहे।

मध्यदेश का प्रथम स्पष्ट और प्रसिद्ध वर्णन मनुस्मृति में आया है। धर्मानुष्ठान के योग्य देशों का वर्णन करते हुए[2] सब से प्रथम गणना ब्रह्मावर्त्त देश की की गई है। यह सरस्वती और दृषद्वती नदी के बीच का भूमिभाग है।

---

(१) महाभारत और पुराणों में हिमालय के उत्तर के देशों से आने जाने की कथाएँ प्रायः आई हैं, किंतु ये कहाँ तक ऐतिहासिक मानी जा सकती हैं इसमें संदेह है। हिमालय के उत्तर में देवताओं की भूमि है इस विचार से तो प्रकट होता है कि इन देशों से निकट संबंध छूट गया था। बौद्धकाल में एक बार फिर हिमालय के उत्तर के देशों से आना जाना होने लगा था लेकिन वे भारत के भाग नहीं गिने जाते थे।

(२) मनुस्मृति, २, १७-२४। बूलर के मत के अनुसार मनुस्मृति का संकलन संवत् २५७ के लगभग हुआ। परंतु मनुस्मृति मानवधर्मसूत्रों के आधार पर लिखी मानी गई है, अतः उसके मुख्य अंशों को सूत्रकाल का (जिसका आरंभ मैकडानेल के मतानुसार वि० पू० ५५७ में हुआ था) मानना अनुचित न होगा। वसिष्ठ धर्मसूत्र १, ९, में आर्यावर्त्त के संबंध में एक मत दिया है कि वह विंध्य के उत्तर में है। यह कदाचित् मानवधर्मसूत्र का मत होगा क्योंकि मनुस्मृति में भी यह मिलता है। मनुस्मृति के देशों के वर्णन की प्राचीनता इससे स्पष्ट होती है। अतः यहाँ मनुस्मृति के मध्यदेश के वर्णन को विनय पिटक के वर्णन से पहले रक्खा गया है। राइज़ डेविड्ज़ (ज० रा० ए० सो० १९०४ पृष्ठ ८३) का मत है कि बौद्धधर्म के केंद्र मगध इत्यादि देशों को पृथक कर देने के लिये मनुस्मति के लेखक ने मध्यदेश की सीमा प्रयाग तक रक्खी है। ऊपर दिए हुए कारणों से मनुस्मृति के वर्णन को बौद्धधर्म के प्रचार से प्राचीन मानना उचित होगा। अतः मनुस्मृति के संबंध में राइज़ डेविड्ज़ का मान्य नहीं मालूम होता।

दूसरे स्थान पर ब्रह्मर्षिदेश बतलाया गया है। इसमें कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन गिनाए गए हैं। यहाँ दो बातें ध्यान देने योग्य हैं। एक तो ब्रह्मर्षिदेश में ब्रह्मावर्त्त आ जाता है अर्थात् ब्रह्मावर्त्त ब्रह्मर्षिदेश का सबसे अधिक पवित्र भाग है, अतः पश्चिम में इन दोनों की सीमा सरस्वती ही होगी, बाक़ी तीन ओर ब्रह्मर्षिदेश अधिक फैला हुआ था। दूसरे, ऐतरेय ब्राह्मण के मध्यदेश और मनुस्मृति के ब्रह्मर्षिदेश दोनों में कुरु-पंचाल गिनाए गए हैं। ऐतरेय ब्राह्मण में उत्तर के वश और उशीनर भी हैं। मनुस्मृति में उनका समावेश नहीं है, किंतु उनके स्थान पर दक्षिण के मत्स्य और शूरसेन देश हैं। ब्रह्मर्षिदेश के बाद मध्यदेश गिनाया गया है। इसकी सीमाएँ यों दी हैं—"हिमालय और विंध्य के मध्य में और विनशन से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम में जो है वह मध्यदेश कहलाता है[१]।"

ऐतरेय ब्राह्मण और मनुस्मृति के मध्यदेश में बहुत अंतर हो गया है। उत्तर की सीमा में अधिक अंतर नहीं हुआ है—दोनों ग्रंथों में हिमालय ही सीमा है, यद्यपि वश और उशीनर का नाम मनुस्मृति में नहीं मिलता। ऐतरेय ब्राह्मण के वर्णन में दक्षिण के भोज लोग मध्यदेश के बाहर गिने गए हैं। यदि भोज लोगों का देश अवंति अर्थात् मालवा मान लिया जाय तो यह मनुस्मृति के मध्यदेश में आ गया क्योंकि अवंति विंध्य पर्वत के उत्तर में है। पश्चिम और दक्षिण के कोने में शूरसेन और मत्स्य बढ़ गए। ब्रह्मर्षिदेश में गिने जाने के कारण ये मध्यदेश में स्वभावतः आ ही गए। पूर्व में मध्यदेश की सीमा फ़र्रुख़ाबाद के निकट से हटकर प्रयाग पर आ गई। यदि प्रयाग से उत्तर और दक्षिण में सीधी लकीर खींची जाय तो प्रायः संपूर्ण कोशलदेश और वत्स व चेदि के भूमिभाग भी मध्यदेश की सीमा के अंदर आ जाते हैं। अतः मनुस्मृति के वर्णन से स्पष्ट है कि ऐतरेय ब्राह्मण के काल की अपेक्षा इस समय मध्यदेश का बहुत अधिक विकास हो गया था। ब्राह्मण और सूत्रकाल में जो आर्यावर्त्त था वह अब मध्यदेश हो गया था और आर्यावर्त्त तो अब समस्त उत्तर भारत—पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम समुद्र तक और हिमालय तथा विंध्य के बीच का भूमिभाग—कहलाता था।

---

(१) मनुस्मृति, २, २१। संभव है कि मनु के इसी वाक्य "विनशन से प्रयाग तक" के आधार पर ही प्रयाग में सरस्वती के अंतर्धान रूप में मिलने की कल्पना उठी हो। तीन वेणियाँ तो बिना सरस्वती का संगम माने ही पूरी हो जाती हैं।

मनुस्मृति काल में आर्यावर्त्त और मध्यदेश दोनों की उत्तर और दक्षिण की सीमाएँ हिमालय और विंध्य की पर्वतश्रेणियाँ थीं। इसका तात्पर्य यह है कि मध्यदेश का शब्दार्थ भुलाया जा चुका था। हिमालय के उत्तर के देश तो बहुत दिनों से आर्यावर्त्त में नहीं गिने जाते थे। विंध्य के दक्षिण में आर्य लोग उस समय तक भली प्रकार नहीं बस पाये होंगे। पंजाब का देश आर्यावर्त्त में फिर गिना जाने लगा था। पूर्व में समुद्र तक आर्यों का पूर्ण प्रभुत्व हो गया था। भारतवर्ष का वर्णन मनुस्मृति में नहीं है। बाद की स्मृतियों तथा अन्य संस्कृत ग्रंथों में भारतवर्ष का स्थान प्रधान हो गया है।

मध्यदेश की तीसरी अवस्था का वर्णन विनय पिटक[1] में मिलता है। मनुस्मृति के समान यहाँ भी मध्यदेश की सीमाएँ ठीक-ठीक दी गई हैं। यह प्रसंग इस प्रकार उठा है। बौद्धधर्म में दीक्षा लेने के लिये यह नियम था कि दस भिक्षु उपस्थित होने चाहिए। किंतु दूर देशों में, जहाँ बौद्धधर्मानुयायी अधिक नहीं थे, दस भिक्षुओं का सदा मिलना सुलभ न था, अतएव बौद्धधर्म के प्रचार में बाधा पड़ती थी। ऐसी ही कठिनता प्रसिद्ध बौद्धधर्मोपदेशक महाकाच्चायन को दक्षिण-अवंति में पड़ी। महाकाच्चायन ने इस संबंध में बुद्ध भगवान् से कहला भिजवाया। तब बुद्ध भगवान् ने नियम में इतना परिवर्तन कर दिया कि दस भिक्षुओं का नियम केवल मध्यदेश के लिये हो, बाहर के देशों में केवल चार भिक्षुओं की उपस्थिति पर्याप्त समझी जावे। इसी स्थान पर बुद्ध भगवान् ने मध्यदेश की सीमाएँ भी गिनाई हैं जो पिटक में इस प्रकार दी हैं। पश्चिम में ब्राह्मणों का थून प्रदेश, पूर्व में कजंगल नगर के आगे महासाला, दक्षिणपूर्व में सलिलवती नदी, दक्षिण में सेतकन्निक नगर और उत्तर में उसीरधज पर्वत। उत्तर और दक्षिण के ये स्थान आजकल कहाँ पड़ते हैं, इसका ठीक निर्णय अभी नहीं हो सका है। उत्तर में हिमालय के बाहर सीमा का जाना दुस्तर है[2]। दक्षिण में विंध्य ही सीमा मालूम होती है क्योंकि दक्षिण

---

(१) महावग्ग, ५, १३, १२। अनुवाद के लिये देखिए सैक्रेड बुक्स आव दी ईस्ट—मैक्स मूलर, जिल्द १७, पृष्ठ ३८। प्रोफ़ेसर ओल्डेनबर्ग के मतानुसार (ज० रा० ए० सो० १६०४, पृष्ठ ८३) मध्यदेश का यह वर्णन विक्रम से ४५७ वर्ष पूर्व का है।

(२) जातक, ३, ११५, में दिया है कि भिक्षु लोग हिमालय से मध्यदेश में उतरने से डरते थे क्योंकि यहाँ के लोग बहुत विद्वान् थे।

इं० एं० १६०५ पृष्ठ १७६, में उसीरधज को कनखल के उत्तर में उशीरगिरि पर्वत अनुमान किया है। कथासरित्सागर के आधार पर उशीरगिरि गंगोत्री के निकट था।

अवंति और उड़ीसा मध्यदेश के बाहर थे[1]। ब्राह्मणों का ज़िला थून आजकल का स्थानेश्वर अनुमान किया गया है[2]। यह अनुमान ठीक ही मालूम होता है क्योंकि यहाँ का निकटवर्त्ती देश अत्यंत प्राचीनकाल से मध्यदेश की पश्चिम की सीमा रहा है। पूर्व में कजंगल[3] भागलपुर से ७० मील पूर्व में माना गया है।

इससे यह स्पष्ट है कि मनुस्मृति के मध्यदेश को ध्यान में रखते हुए बौद्धकाल में मध्यदेश की पूर्वी सीमा बहुत आगे बढ़ गई थी। भारतीय सभ्यता का केंद्र उस समय बिहार की भूमि थी और उसका भी मध्यदेश में गिना जाना आश्चर्यजनक नहीं है। प्राचीन आर्य-सभ्यता के साथ ही आर्यावर्त्त शब्द का लोप हो चुका था, अतः बौद्धकाल का मध्यदेश आर्यावर्त्त का मध्यदेश न होकर भारत का मध्यदेश रहा होगा। एक प्रकार से यह आर्यावर्त्त का मध्यदेश भी कहा जा सकता है क्योंकि यथार्थ में आर्य-सभ्यता विंध्य पर्वत के दक्षिण में प्रायः कृष्णा नदी तक फैल चुकी थी, अतः उन भागों की आर्यावर्त्त में गिनती होनी चाहिए थी। यद्यपि इस प्रकार का प्रयोग संस्कृत साहित्य में कहीं नहीं मिलता है। गुजरात और महाराष्ट्र को अथवा कृष्णा नदी के दक्षिण भाग को भी अनार्य देश कौन कह सकता है? उड़ीसा और छत्तीसगढ़ की भी गिनती आर्यावर्त्त में होनी चाहिए। आंध्र और कर्नाटक तथा द्रविड़ देशों पर भी आर्य-सभ्यता का गहरा रंग चढ़ा हुआ है। वैसे तो दक्षिण में रामेश्वर और लंका तथा भारत के बाहर[4] भी चारों ओर के देशों में भी आर्य लोग पहुँच गए थे और उन्होंने वहाँ पर अपनी सभ्यता की छाप लगा दी थी।

मध्ययुग में मध्यदेश के अर्थ करने में मनुस्मृति के वर्णन का स्पष्ट प्रभाव देख पड़ता है। कुछ लेखकों ने तो मनुस्मृति के शब्द प्रायः ज्यों के त्यों

---

(१) जातक १, ८० में दो व्यापारियों का वर्णन है जो उक्कल (उत्कल व उड़ीसा) से मज्झिम देस (मध्यदेश) की ओर यात्रा कर रहे थे।

(२) इं० एं० १९२१, पृष्ठ १२१, नोट २६।

(३) ज० रा० ए० सो०, १९०४, पृष्ठ ८३।

(४) इं० एं० १९२१, पृष्ठ ११७ में भारत के बाहर के देशों में भारतीय लोगों के जाने का कुछ वर्णन है।

हिंदुइज़्म एंड बुधिज़्म—सर चार्ल्स इलियट भाग ३। इस पुस्तक में भारत के बाहर के देशों में बौद्धधर्म के प्रचार का विस्तृत वर्णन है। निम्नलिखित देशों के संबंध में इस भाग में लिखा गया है—

उद्धृत कर दिये हैं[1]। कुछ ने उनका सारांश दे दिया है। एक प्रकार से मध्यदेश के विकास की अंतिम अवस्था बौद्ध काल में बीत चुकी थी और अब उसके संकुचित होने के दिन आ रहे थे। देशों के पुराने नाम अब भुलाए जा रहे थे और उनका स्थान धीरे-धीरे नये नाम ले रहे थे। पूर्व से हट कर अब राजनीतिक शक्ति का केंद्र पश्चिम की ओर आ रहा था। पाटलिपुत्र का स्थान कन्नौज ने ले लिया था[2]। मध्यदेश की सीमा का पूर्व में कम हो जाने का एक यह भी कारण हो सकता है। मार्कण्डेय पुराण[3] में विदेह व मगध को मध्यदेश में नहीं गिना है। इसके अनुसार कोशल और काशी के लोगों तक ही मध्यदेश माना गया है। यह घटने की पहली सीढ़ी है। बृहत्संहिता में काशी और कोशल को भी मध्यदेश के बाहर कर दिया है।

वराहमिहिर की बृहत्संहिता[4] (संवत् ६४४) का वर्णन अधिक प्रसिद्ध और पूर्ण है। ज्योतिष के संबंध में देशों पर ग्रहों के प्रभाव का वर्णन करने के लिये भारत के देशों का विस्तृत वृत्तांत बृहत्संहिता के चौदहवें अध्याय में दिया है। इसके अनुसार भारतवर्ष के देश (आर्यावर्त्त में नहीं) मध्य, प्राक् इत्यादि भागों में विभक्त हैं। मध्यदेश की सूची में ये नाम प्रसिद्ध हैं—कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन और वत्स। कुछ और नाम भी दिए हैं किंतु वे स्पष्ट नहीं हैं। वत्स देश की राजधानी प्रसिद्ध नगरी कौशाम्बी थी जो प्रयाग से ३० मील पश्चिम में बसी थी। अतः बृहत्संहिता के मध्यदेश की सीमा पूर्व में मनुस्मृति के समान लगभग प्रयाग तक ही पहुँचती है। यद्यपि बृहत्संहिता में साकेत नगरी को मध्यदेश में गिना है किंतु काशी और कोशल के लोगों की गणना स्पष्ट रूप से पूर्व के लोगों में की है। संस्कृत के

लंका, बर्मा, स्याम, कंबोज, चंपा, जावा व अन्य टापू, मध्य एशिया, चीन, कोरिया, अनाम, तिब्बत और जापान।

(१) त्रिकांड शेष, २, १८६।
अभिधान चिंतामणि, ९५१ वाँ श्लोक।
अमरकोश, २, १, ७।

(२) राजशेखर का वर्णन, देखो पत्रिका भाग २ पृष्ठ १०-११।

(३) मार्कण्डेय पुराण, ५७, ३३।

(४) बृहत्संहिता में आए भूगोलसंबंधी शब्दों की सूची के लिये देखिए, इं० एं०, १८९३ पृष्ठ १६९।

अन्य ग्रंथों[1] में भी मध्यदेश का उल्लेख अनेक स्थलों पर हुआ है किंतु विशेष विस्तार न होने के कारण उनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

कुछ विदेशियों ने भी मध्यदेश की चर्चा अपने ग्रंथों में की है। इस संबंध में फ़ाहियान (संवत् ४५७) का वर्णन[2] उल्लेखनीय है। "यहाँ से (अर्थात् मताऊल या मथुरा से) दक्षिण मध्यदेश कहलाता है। यहाँ शीत और उष्ण सम हैं। प्रजा प्रभूत और सुखी है। व्यवहार की लिखापढ़ी और पंच पंचायत कुछ नहीं है। लोग राजा की भूमि जोतते हैं और उपज का अंश देते हैं। जहाँ चाहे जायँ, जहाँ चाहे रहें। राजा न प्राणदंड देता है न शारीरिक दंड देता है। अपराधी की अवस्थानुसार उत्तम-साहस व मध्यम-साहस का अर्थ-दंड दिया जाता है। बार-बार दस्युकर्म करने पर दक्षिण करच्छेद किया जाता है। राजा के प्रतिहार और सहचर वेतनभोगी हैं। सारे देश में कोई अधिवासी न जीवहिंसा करता है, न मद्य पीता है, और न लहसुन प्याज़ खाता है, सिवाय चांडाल के। दस्यु को चांडाल कहते हैं। वे नगर के बाहर रहते हैं और नगर में जब पैठते हैं, तब सूचना के लिये लकड़ी बजाते चलते हैं कि लोग जान जायँ और बचा कर चलें, कहीं उनसे छू न जायँ। जनपद में सूअर और मुर्गी नहीं पालते, न जीवित पशु बेचते हैं, न कहीं सूनागार और मद्य की दूकानें हैं, क्रय-विक्रय में कौड़ियों का व्यवहार है। केवल चांडाल मछली मारते, मृगया करते और मांस बेचते हैं।" इसके आगे मध्यदेश में बौद्धधर्म की अवस्था का वर्णन है। फ़ाहियान ने यह नहीं दिया है कि उस समय पूर्व में कहाँ तक मध्यदेश माना जाता था।

मध्यदेश का अंतिम उल्लेख अलबेरूनी[3] (संवत् १०८७) के भारत वर्णन में मिलता है। इसका भी यहाँ दे देना अनुचित न होगा। "भारत का मध्य कन्नौज के चारों ओर का देश है जो मध्यदेश कहलाता है। भूगोल के विचार से यह मध्य या बीच है क्योंकि यह समुद्र और पर्वतों से बराबर दूरी पर है। गर्म और शीतप्रधान प्रांतों के भी यह मध्य में है और भारत की

(१) महाभारत में अनेक स्थलों पर मध्यदेश का नाम आया है। महाभारत युद्ध में आए हुए मध्यदेश के राजाओं के संबंध में देखिए ज० रा० ए० सो० १९०८, पृष्ठ ३२६।

कथासरित्सागर, ३२, १०६ में मध्यदेश के एक राजा का वर्णन आया है। राजतरङ्गिणी, ६, २०० में मध्यदेश के लोगों के लिये मंदिर बनवाए जाने का कथन है।

(२) फ़ाहियान (देवीप्रसाद ऐतिहासिक पुस्तकमाला, सोलहवाँ पर्व, पृष्ठ ३०)।

(३) अलबेरूनी का भारत, पर्व १८ (साचौ का अनुवाद भाग १, पृष्ठ १९८)।

पूर्वी और पश्चिमी सीमाओं के भी बीच में पड़ता है। इसके सिवाय यह देश राजनीतिक दृष्टि से भी केंद्र है क्योंकि प्राचीन काल में यह देश भारत के सब से प्रसिद्ध वीर पुरुषों और राजाओं की वास-भूमि थी।" मध्यदेश की सीमाओं के सम्बन्ध में इस वर्णन से विशेष सहायता नहीं मिलती।

इसके बाद प्रायः एक सहस्र वर्ष से आर्यावर्त्त या भारत के हृदय मध्यदेश पर विदेशियों का आधिपत्य रहा है। मुसलमान काल में मध्यदेश हिंदुस्तान कहलाने लगा। मध्यदेश का यह नया अवतार भी अपने पुराने कलेवर के समान ही विकास को प्राप्त हुआ। दिल्ली के चारों ओर के देश से आरंभ करके हिंदुस्तान नाम का प्रयोग धीरे-धीरे बढ़ता गया। मुसलमान काल के अंतिम दिनों में समस्त उत्तर भारत अर्थात् प्राचीन काल का आर्यावर्त्त हिंदु-स्तान हो गया। अब तो हिंदुस्तान के अर्थ भारतवर्ष हो गए हैं। ब्रिटिश शासन में मध्यदेश ने तीसरी बार मध्यप्रांत के रूप में जन्म ग्रहण किया है। नयी स्थिति के अनुसार यह ठीक ही है।

विदेशियों के आधिपत्य के कारण मध्यदेश शब्द को यद्यपि मध्यदेश वालों ने बिलकुल भुला दिया किंतु उसका पुराना रूप पूर्णतया लुप्त नहीं हो गया है। हिमालय ने उसको भी शरण दी है। काठमांडू के बाज़ार में यदि कोई हिंदुस्तानी निकलता हो तो नेपाली लोग अब भी कहते हैं कि 'मदेशिया' जा रहा है अर्थात् मध्यदेशीय या मध्यदेश का रहने वाला जा रहा है।

२—हिंदी की बोलियाँ तथा प्राचीन जनपद

हिंदी प्रदेश[1] में निम्नलिखित मुख्य बोलियाँ[2] बोली जाती हैं—खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रजभाषा, कन्नौजी, बुंदेली; अवधी, बघेली, छत्तीसगढ़ी; भोजपुरी, मैथिली, मगही; मालवी, जयपुरी मारवाड़ी और मेवाती। ध्यान देने से एक अत्यंत आश्चर्यजनक बात दिखलाई पड़ती है। इन बोलियों के ये वर्तमान विभाग यहाँ के प्राचीन जनपदों[3] के विभागों से बहुत मिलते हैं। प्रत्येक बोली एक प्राचीन जनपद की प्रतिनिधि मालूम पड़ती है। प्रत्येक बोली

---

(१) हिंदी प्रदेश से तात्पर्य यहाँ मध्यदेश अथवा भागलपुर तक की गंगा की घाटी से है। अतः उत्तर भारत के निम्नलिखित प्रांत हिंदी प्रदेश में सम्मिलित हैं—दिल्ली, पूर्वी पंजाब, संयुक्त प्रांत, बिहार हिंदुस्तानी मध्य प्रांत अथवा महाकोशल, मध्य भारत और राजस्थान। पश्चिमी तथा पूर्वी हिंदी के अतिरिक्त, राजस्थानी, बिहारी तथा मध्य पहाड़ी हिंदी की प्रधान उपभाषाएँ मानी जा सकती हैं।

(२) हिंदी की बोलियों तथा उपभाषाओं के पूर्ण विवेचन के लिये देखिए :—

लिंग्विस्टिक सर्वे आव इंडिया, संपादक सर जी० ए० ग्रियर्सन।

पुस्तक ५, भाग २, **बिहारी,** उड़िया।

,, ६, **पूर्वी हिंदी।**

,, ९, भाग १, **पश्चिमी हिंदी** पंजाबी।

,, ९, भाग २, **राजस्थानी,** गुजराती।

ग्रियर्सन साहब ने हिंदी को दो मूल भाषाओं में विभक्त किया है। एक को पश्चिमी हिंदी और दूसरी को पूर्वी हिंदी नाम दिया है। पश्चिमी हिंदी में पाँच बोलियाँ मानी हैं—हिंदुस्तानी या खड़ी बोली, बाँगरू, ब्रज, कन्नौजी और बुंदेली। पूर्वी हिंदी में अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी ये तीन बोलियाँ गिनी हैं। बिहारी भाषा हिंदी से भिन्न मानी है और उसमें भोजपुरी, मैथिली और मगही को सम्मिलित किया है। राजस्थानी भी एक भिन्न भाषा बतलाई है और उसमें मालवी, जयपुरी मारवाड़ी और मेवाती इन तीन बोलियों को गिना है।

ग्रियर्सन साहब का कहना है कि बिहारी, पूर्वी हिंदी और पश्चिमी हिंदी का जन्म क्रम से मागधी, अर्धमागधी और शूरसेनी प्राकृतों से हुआ है। अन्य विद्वान भी ऐसा ही मानते हैं। मेरी राय में इन प्राकृतों के वर्तमान रूप मगही, अवधी और ब्रज की बोलियाँ हैं न कि बिहारी, पूर्वी हिंदी तथा पश्चिमी हिंदी भाषाएँ। इस संबंध में विस्तृत विवेचन किसी अन्य लेख में किया जायगा।

इस लेख में बोलियों की गणनाएँ तथा उनके बोले जानेवाले प्रदेशों की सीमाएँ ग्रियर्सन साहब की इस विस्तृत सर्वे के आधार पर ही मानी गई हैं।

(३) प्राचीन जनपदों के नाम वैदिक साहित्य में बहुत स्थानों पर आए हैं। जनपदों का प्रथम पूर्ण वर्णन महाभारत में मिलता है। महाभारत के अनुसार उस समय हिंदी प्रदेश में निम्नलिखित मुख्य जनपद थे—कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य, कोसल, काशी, विदेह, मगध, अंग, वत्स, दक्षिण कोसल, चेदि

के विभाग को लेकर यह दिखलाने का यत्न किया जायगा कि वह किस प्राचीन जनपद से साम्य रखता है। खड़ी बोली[1] संयुक्त प्रांत के मुरादाबाद, बिजनौर, सहारनपुर, मुज़फ़्फ़रनगर और मेरठ इन पाँच ज़िलों, रामपुर रियासत और पंजाब के अंबाला ज़िले में बोली जाती है। यह भूमिभाग प्राचीन समय में कुरु जनपद था। यह बात कुतूहलजनक है कि इस बोली का शुद्ध रूप अब भी उसी स्थान के निकट मिलता है जिस स्थान पर कुरुदेश की प्रसिद्ध राजधानी हस्तिनापुर थी। खड़ी बोली हरिद्वार से प्रायः सौ मील नीचे तक गंगा के किनारे की जनता की बोली कही जा सकती है।

बाँगरू बोली खड़ी बोली का कुछ बिगड़ा हुआ रूप है। इसमें राजस्थानी और पंजाबी का प्रभाव अधिक दिखलाई पड़ता है। यह बोली पंजाब प्रांत के कर्नाल, रोहतक और हिसार के ज़िलों, झींद रियासत और दिल्ली प्रांत में बोली जाती है। यह कुरुदेश का वह भूमिभाग है जो कौरवों ने पांडवों को दिया था। यह कुरुवन, कुरुजांगल या कुरुक्षेत्र कहलाता था। मनुस्मृति का ब्रह्मावर्त्त[2] देश यहाँ ही था।

और अवन्ति। इन जनपदों की सीमाओं का ठीक-ठीक वर्णन बहुत कम मिलता है। किंतु इनकी राजधानियों से इनके क्षेत्रफल का बहुत कुछ ठीक अनुमान किया जा सकता है। इन पदों के संक्षिप्त वर्णन के लिये देखिए—

महाभारत मीमांसा (लेखक सी० वी० वैद्य) पृष्ठ ३९१-३९४ तथा जर्नल आव दि रायल एशियाटिक सोसायटी, १६०८, पृष्ठ ३३२। बुद्ध भगवान् के समय तक जनपदों के ये नाम मौजूद थे। परिशिष्ट १, कोष्ठक 'ख' में ये नाम दिए गए हैं।

(१) खड़ी बोली आजकल समस्त मध्यदेश में और उसके निकटवर्ती अन्य प्रांतों में भी सुगमता से समझी जाती है। संपूर्ण उर्दू साहित्य और नवीन हिंदी साहित्य की भाषा इसी बोली के व्याकरण के आधार पर ढली है। इस बोली की प्रधानता का कारण इसका दिल्ली के निकट बोला जाना प्रतीत होता है। मुसलमान शासकों ने दिल्ली को अपनी राजधानी बनाया था, अतः वहाँ की बोली स्वभावतः उनके राज्य की राजभाषा हो गई। साहित्य के क्षेत्र में भी इसे मुसलमान कवियों ने ही पहले पहल अपनाया था। उस समय हिंदू कवि प्रायः ब्रजभाषा में कविता लिखते थे। आजकल तो मध्यदेश की बोलियों में खड़ीबोली ही सर्वप्रधान है। हिंदी और उर्दू खड़ी बोली के ही साहित्यिक रूप हैं। उर्दू खड़ी बोली का वह रूप है जिसका प्रयोग प्रधानतया मध्यदेश के मुसलमान साहित्य में करते रहे हैं। इसमें स्वभावतः फ़ारसी तथा अरबी शब्दों का मिश्रण अधिक हो गया है और यह अरबी लिपि में लिखी जाती है। आधुनिक हिंदी खड़ी बोली का वह रूप है जिसका प्रयोग प्रायः मध्यदेश के हिंदू आजकल साहित्य में करते हैं। इसमें स्वभावतः संस्कृत तथा प्राकृत शब्दों का बाहुल्य रहता है और यह परंपरागत देवनागरी लिपि में लिखी जाती है। मध्यदेश के नागरिक बोलचाल में प्रायः खड़ी बोली का ही प्रयोग करते हैं चाहे उनकी निज की बोली भिन्न हो।

(२) मनुस्मृति, २, १७। "सरस्वती और दृषद्वती इन दो देवनदियों के जो मध्य में है उस

पांडवों की राजधानी इंद्रप्रस्थ, वर्धन वंश की राजधानी स्थानेश्वर, तथा विशाल मुग़ल साम्राज्य की राजधानी दिल्ली इसी प्रदेश में पड़ती हैं। वर्तमान अंग्रेज शासकों के भारत साम्राज्य की प्रधान नगरी नई दिल्ली भी यहाँ ही बस रही है। पश्चिम से आने वाले आक्रमणकारियों को हिंदी प्रदेश का प्रथम जनपद यही मिलता था, अतः मध्यदेश के भाग्य का बहुत बार निर्णय करने वाला प्रसिद्ध पानीपत का युद्धक्षेत्र भी इसी प्रदेश में है।

बाँगरू सरस्वती और यमुना के बीच में बसे हुए लोगों की बोली कही जा सकती है। उत्तर के कुछ भाग को छोड़कर शेष स्थानों पर बाँगरू और खड़ी बोली के प्रदेशों को यमुना की नीली धारा अलग करती है। वास्तव में बाँगरू प्रदेश कुरु-जनपद का ही अंश है और बाँगरू बोली भी खड़ी बोली का ही रूपांतर मात्र है।

कन्नौजी बोली पीलीभीत, शाहजहाँपुर, हरदोई, फ़र्रुख़ाबाद, इटावा और कानपुर के ज़िलों में बोली जाती है। यह भूमिभाग प्राचीनकाल में पंचाल जनपद के नाम से प्रसिद्ध था। व्रज और अवधी के बीच में पड़ जाने से कन्नौजी बोली का क्षेत्रफल कुछ संकुचित हो गया है। पंचाल देश का प्राचीन रूप समझने के लिये इन दोनों बोलियों से कुछ ज़िले लेने पड़ेंगे। इस बोली का केंद्र कन्नौज नगरी है जिससे इस बोली का नाम पड़ा है। पंचालों के राजा द्रुपद की राजधानी कांपिल्य कन्नौज से कुछ ही दूर पश्चिम की ओर गंगा के दक्षिण किनारे पर बसी थी।

प्राचीन पंचाल देश की तरह अब भी गंगा इस प्रदेश को दो भागों में विभक्त करती है। प्राचीन काल में गंगा के उत्तर का भाग उत्तर पंचाल और दक्षिण का भाग दक्षिण पंचाल कहलाता था। उत्तर पंचाल के बहुत से भाग में कुछ काल से व्रज की बोली का प्रभाव हो गया है। उत्तर पंचाल की राजधानी अहिक्षेत्र, जो बौद्धकाल तक प्रसिद्ध रही थी, बरेली ज़िले में पड़ती है। यहाँ आज-कल व्रज का एक रूप बोला जाता है।

गंगा के पार पूर्व में बदायूँ और बरेली के ज़िलों में व्रजभाषा के घुस पड़ने के कुछ विशेष कारण हैं। अहिक्षेत्र के नष्ट हो जाने पर इस प्रदेश की कोई प्रसिद्ध राजधानी नहीं रही, जो यहाँ का केंद्र हो सकती। ऐसे

देवताओं के रचे देश को ब्रह्मावर्त कहते हैं।" सरस्वती और यमुना के बीच की एक छोटी नदी को दृषद्वती मानते हैं इसका वर्तमान नाम घग्घर है।

केंद्रों से बोली तथा अन्य प्रादेशिक विशेषताओं के सुरक्षित रहने में विशेष सहायता मिलती है। इसके अतिरिक्त ब्रज का वैष्णव साहित्य, जो प्रायः गीतों के रूप में था धीरे-धीरे इस ओर फैला और जनता भी तीर्थाटन के लिये ब्रज में बहुत आती जाती रही। इन बातों का प्रभाव भी बोली पर बहुत पड़ा।

मध्य काल में साहित्य की उन्नति के कारण ब्रज की बोली ब्रजभाषा नाम से प्रसिद्ध हो गई। इसका शुद्ध रूप अलीगढ़, मथुरा और आगरे के ज़िलों तथा धौलपुर रियासत में मिलता है। यह भूमि-भाग प्राचीन काल में शूरसेन जनपद था। ब्रज का मिश्रित रूप उत्तर में बुलंदशहर, बदायूँ और बरेली, पूर्व में एटा और मैनपुरी के ज़िलों में, और पश्चिम तथा दक्षिण में पंजाब के गुड़गाँव ज़िले, अलवर, भरतपुर, जयपुर रियासत के पूर्व भाग, करौली, और ग्वालियर के कुछ भाग में बोला जाता है।

जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है ब्रज की बोली के इस विस्तीर्ण प्रभाव के मुख्य कारण कृष्णभक्ति और वैष्णव साहित्य प्रतीत होते हैं। सैकड़ों वर्षों से चारों ओर के लोग कृष्णलीला की इस भूमि के दर्शनों को आते रहे हैं। सैकड़ों कवियों ने कृष्णलीला को यहाँ ही की बोली में गाया है। अतः ब्रज की बोली का दूर तक प्रभाव फैलना स्वाभाविक है। खड़ी बोली के साहित्य में प्रयोग होने के पूर्व कई सौ वर्ष तक साहित्य की भाषा ब्रज की ही बोली रही है।

प्राकृत काल में भी यहाँ की बोली 'शौरसेनी' बहुत उन्नत अवस्था में थी। प्राकृत गद्य में इसका विशेष प्रयोग होता था। संभव है ब्रजभाषा के विकास में इस बात का भी कुछ प्रभाव रहा हो।

मध्यदेश के समस्त प्राचीन जनपदों में कोसल अपने व्यक्तित्व को पृथक् रखने में सबसे अधिक सफल रहा। मुसलमानों के शासन काल में जब पुराने स्वाभाविक विभाग एक प्रकार से पूर्ण रूप से नष्ट-भ्रष्ट हो गए थे तब भी अवध ने नवाबों के शासन में अपने अस्तित्व को एक बार फिर प्रकट किया था। वर्तमान समय में भी अवध के ज़िले अलग ही से हैं। तालुकेदारी प्रथा के कारण अवध आगरा प्रदेश के साथ मेल नहीं खाता।

आजकल अवधी बोली हरदोई ज़िले को छोड़कर लखनऊ की कमिश्नरी तथा फ़ैज़ाबाद की संपूर्ण कमिश्नरी में बोली जाती है। प्राचीन काल में यह ही कोसल जनपद कहलाता था, किंतु आजकल का अवध प्राचीन कोसल से

पूर्णतया नहीं मिलता है। दोनों का क्षेत्रफल प्रायः बराबर होते हुए भी वर्तमान अवध कुछ पश्चिम और दक्षिण की ओर हट आया है और उसने प्राचीन पंचाल और वत्स के जनपदों की कुछ भूमि पर अधिकार कर लिया है। इलाहाबाद और फ़तेहपुर के ज़िलों में, जो गंगा के दक्षिण में हैं, आजकल अवधी का ही एक रूप बोला जाता है। पूर्व की ओर से इसने अपना आधिपत्य बहुत कुछ हटा लिया है। एक समय कोसल की पूर्वी सीमा[1] विदेह जनपद से मिली हुई थी। अब तो इन दोनों के बीच में काशी की बोली भोजपुरी का विस्तीर्ण प्रदेश आ गया है। कोसल सरयू के किनारे[2] बसा था। अवध को गोमती के किनारे बसा कहना चाहिए। कोसल की प्राचीन राजधानी अयोध्या आज-कल अवध की पूर्वी सीमा के निकट पड़ती है।

अवधी प्रदेश के पश्चिम की ओर हट आने के कई कारण थे। मुख्य कारण अयोध्या के बाद अवध की राजधानी का श्रावस्ती हो जाना था जो कोसल के पश्चिमोत्तरी कोने में थी। संपूर्ण बौद्धकाल में श्रावस्ती कोसल की राजधानी रही अतः इस नगरी का यहाँ की जनता पर अधिक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। मुसलमान काल में अवध की राजधानी लखनऊ रही। यह भी कोसल के पश्चिमी भाग में पड़ती है। प्राचीन काल में पंचाल और कोसल के बीच में नैमिषारण्य का विस्तृत वन था। दक्षिण में गंगा तक कोसल की सीमा थी। उसके बाद प्रयाग वन था। बाद को जब ये वन कटे तो कोसलवासियों ने इन पर धीरे-धीरे अधिकार कर लिया होगा।

वैष्णवकाल में जिस समय व्रज में कृष्ण-भक्ति का प्रचार हुआ उसी समय विष्णु के दूसरे मुख्य अवतार राम की भक्ति का केंद्र अवध हो गया। यही कारण है कि हिंदी प्रदेश की मध्य कालीन बोलियों में व्रज के बाद अवधी का स्थान है। हिंदी की और कोई भी बोली साहित्य की दृष्टि से इन तक नहीं पहुँच सकी। प्राकृतकाल में अवधी अर्द्धमागधी के नाम से अलग रह चुकी है। शौरसेनी, मागधी तथा महाराष्ट्री के बीच में होने के कारण प्राकृत साहित्य में अर्द्धमागधी का स्थान ऊँचा नहीं हो सका।

---

(१) देखिए शतपथ ब्राह्मण, १, ४, १, १७। "अब भी यह (सदानीरा नदी) कोसल और विदेह की मर्यादा है।" सदानीरा विद्वानों के मत में गंडक नदी है।

(२) देखिए रामायण, १, ५, ५, "सरयू के तीर पर कोसल नाम का जनपद था जो धनधान्य से पूर्ण, सुखी और विशाल था।"

काशी अत्यंत प्राचीन काल से हिंदू धर्म की केंद्र रही है, अतः यह स्वाभाविक ही है कि काशी प्रदेश की बोली भोजपुरी का आधिपत्य चारों ओर दूर तक हो। भोजपुरी बोली गोरखपुर और बनारस की संपूर्ण कमिश्नरियों और बिहार के चंपारन, सारन और शाहाबाद के ज़िलों में बोली जाती है। बिहार में छोटा नागपुर के पालामऊ और राँची के ज़िलों में भी यहाँ के लोग कुछ काल से अधिक संख्या में पहुँच गए हैं।

भोजपुरी प्रदेश काशी जनपद से अधिक बड़ा है, विशेषतया उत्तर में जहाँ प्राचीन काल में कोसल और विदेह का आधिपत्य था। कोसल का प्रभाव धीरे-धीरे पश्चिम की ओर हटता गया। विदेह ने अपनी सीमा के बाहर फैलने का कभी प्रयास नहीं किया। अतः हिंदू धर्म के नवीन रूप के साथ-साथ काशी का व्यक्तित्व चारों ओर दूर तक फैल गया। मथुरा के समान काशी की भी धर्म-केंद्र होने के कारण विशेष शक्ति रही।

इस प्रदेश की एक विशेषता यह है कि इसकी राजधानी सदा काशी नगरी रही। वैदिक, बौद्ध, हिंदू, मुसलमान तथा वर्तमान काल में भी काशी अपने प्रदेश की अद्वितीय नगरी है। पूर्व में इस प्रदेश की सीमा गंडक और सोन नदियाँ हैं। दक्षिण में भी सोन सीमा है। गंगा और सरयू इस प्रदेश के बीच में होकर बहती हैं।

मिथिला का प्राचीन नाम विदेह था। यद्यपि काशी और नवद्वीप के बीच में रहकर विद्या में यह अपने पुराने गौरव को स्थिर नहीं रख सकी किंतु यह जीवित अब भी है।

मैथिली मुज़फ़्फ़रपुर, दरभंगा, भागलपुर और पुनिया के ज़िलों में बोली जाती है। भोजपुरी के धक्के के कारण यह कुछ पूरब की ओर हट गई है। बौद्धकाल में यहाँ स्वतंत्र पौर-राज्य थे, यह मिथिला की विशेषता थी। हिंदू, मुसलमान तथा वर्तमान काल में मिथिला राजनीति से पृथक् रही। तपस्वी ब्राह्मण के समान मिथिला ने भारत के राजनीतिक, धार्मिक अथवा सामाजिक झगड़ों में कभी भी विशेष भाग नहीं लिया।

मगही बोली गंगा के दक्षिण में मुंगेर, पटना, गया और हज़ारीबाग़ के ज़िलों में बोली जाती है। यह भूमि-भाग प्राचीन मगध से बिलकुल मिलता है। बौद्धकाल में मगध बहुत प्रसिद्ध था। मगध से ही बौद्धधर्म भारतवर्ष तथा उसके बाहर बर्मा, कंबोज, जावा तथा बाद को चीन, जापान, तिब्बत, मध्य

एशिया और अफ़गानिस्तान तक फैला। कुछ विद्वानों के मत में यहाँ की मागधी प्राकृत का ही संस्कृत-मिश्रित रूप पाली था जिसमें अधिकांश बौद्ध साहित्य लिखा गया। बाद के प्राकृत साहित्य में भी मागधी का ऊँचा स्थान रहा। बड़े-बड़े साम्राज्यों का भी मगध केंद्र रहा। मौर्य तथा गुप्त साम्राज्य के केंद्र मगध में ही थे। महाभारत काल में जरासंध की इच्छा मगध में साम्राज्य स्थापित करने की थी किंतु पश्चिमी जनपदों की बढ़ती हुई शक्ति के कारण वह उस समय पूर्ण नहीं हो सकी।

भाषा सर्वे के अनुसार प्राचीन अंग देश में बोली जानेवाली बोली पृथक् नहीं है। संभव है कि विशेष अध्ययन करने से यहाँ की बोली निकटवर्त्ती बोलियों से पृथक् हो सके। अंग देश बहुत निकट काल तक बौद्ध-काल के चंपा और मुसलमान काल के भागलपुर के केंद्रों में पृथक् रहा है, अतः इसका व्यक्तित्व इतने शीघ्र पूर्ण रूप से नष्ट नहीं हो सकता।

मध्यदेश के बिलकुल दक्षिणी भाग में छत्तीसगढ़ी बोली जाती है। छत्तीसगढ़ी के ज़िले मध्यप्रांत में रायपुर, बिलासपुर और द्रुग हैं। सुरगुजा तथा कोरिया की रियासतों की बोली भी छत्तीसगढ़ी ही है। यह प्रदेश प्राचीन दक्षिण कोसल का द्योतक है। हिंदू काल में यहाँ हैहयवंश[1] की एक शाखा राज करती थी। इनकी राजधानी रतनपुर थी। यहाँ के जंगल के निवासी गोंड कहलाते हैं जिनके नाम से यह प्रदेश मुसलमान काल में गोंडवाना कहलाता था।

बघेली बोली यमुना के दक्षिण में इलाहाबाद और बाँदा के ज़िलों, रींवा रियासत तथा मध्यप्रांत के दमोह, जबलपुर, मंडला और बालाघाट के ज़िलों में बोली जाती है। इस बोली का केंद्र बघेलखंड में बघेल राजपूतों का प्रदेश है जिनके नाम से इसका नाम पड़ा है। आज-कल जहाँ बघेली और अवधी मिलती है वहाँ प्राचीन काल में वत्स राज्य था जिसकी राजधानी प्रसिद्ध कौशांबी नगरी थी। चंद्रवंशियों की प्राचीन राजधानी प्रतिष्ठानपुर भी वर्तमान प्रयाग के निकट गंगा के उत्तर किनारे पर बसा था। मुसलमान काल में इलाहाबाद नगर की नींव पड़ी जो अब भी आगरा व अवध के संयुक्त प्रांतों की राजधानी है। बघेली प्रदेश के मध्य में कोई भी प्रसिद्ध जनपद या राजधानी नहीं थी।

बुंदेलखंड प्राचीन चेदि जनपद है जहाँ का राजा शिशुपाल कृष्ण का सहज बैरी था। बुंदेली बोली हमीरपुर, झाँसी और जालौन के ज़िलों में,

(१) इंपीरियल गज़ेटियर आव इंडिया, पुस्तक १०, पृष्ठ १२।

मध्यभारत के ग्वालियर, दतिया, छत्रपुर और पन्ना राज्यों में तथा मध्य प्रांत के सागर, होशंगाबाद, छिंदवाड़ा और सेयोनी के ज़िलों में बोली जाती है। हिंदू-काल में कलचूरी जाति[1] के हैहयवंश के राजा यहाँ राज्य करते थे। इनकी राजधानी जबलपुर के निकट त्रिपुरी नगरी थी। बाद को महोबा के चंदेल राजा इस प्रदेश के शासक हुए। बुंदेलखंड के आल्हा ऊदल की कथा आज भी प्रसिद्ध है। कालिंजर का प्रसिद्ध क़िला बुंदेलखंड में ही है।

मालवी संपूर्ण इंदौर राज्य, ग्वालियर राज्य के दक्षिण भाग तथा मध्य-प्रांत के नीमर और बेतुल के ज़िलों में बोली जाती है। यही प्रदेश अवंति कहलाता था। बाद को यह मालवा कहलाने लगा। मालवा बहुत प्राचीन प्रदेश है। मौर्यों के मालवा सूबे की राजधानी विदिशा, विक्रमादित्य की राजधानी उज्जैन तथा राजा भोज की राजधानी धारा नगरी सब मालवा में ही थीं। मुसलमान काल में भी मालवा का सूबा बराबर अलग रहा। आज-कल इस प्रदेश का मुख्य नगर इंदौर है।

बघेली, बुंदेली और मालवी का विंध्य पर्वत के दक्षिण की ओर विकास कुछ ही काल पूर्व से हुआ है। यहाँ पहले अधिक घने जंगल थे किंतु जैसे-जैसे जंगल कटते गए, लोग दक्षिण की ओर फैलते गए।

जयपुरी बोली जयपुर, कोटा और बूँदी के राज्यों में बोली जाती है। यह प्राचीन काल में मत्स्य देश कहलाता था जहाँ के राजा विराट् के यहाँ पांडवों ने अज्ञातवास किया था। जयपुर रियासत में अब भी विराट् नगर के चिह्न विद्यमान हैं और सम्राट् अशोक के लेख भी वहाँ मिल चुके हैं। कुरु, पंचाल और शूरसेन जनपद के साथ मत्स्य की भी गिनती होती थी और ये चारों मिलकर ब्रह्मर्षि[2] देश के नाम से पुकारे जाते थे।

मेवाती बोली का प्रदेश उत्तर मत्स्य का एक अंश है।

मारवाड़ी अरावली पर्वत के पश्चिम में समस्त मारवाड़ तथा अजमेर के प्रदेश में बोली जाती है। प्राचीन काल में यह जनपद मरुदेश कहलाता था। मुसलमानों के आक्रमणों के कारण जब क्षत्रिय राजाओं को गंगा के हरे-भरे मैदान छोड़ने पड़े तब इस मरुभूमि ने ही उन्हें शरण दी थी। जोधपुर का घराना बहुत काल से यहाँ राज कर रहा है। मेवाड़ में भी मारवाड़ की बोली

---

(१) इं० ग० आ० इं०, पुस्तक १०, पृष्ठ १२।

(२) मनुस्मृति, २, १९, "कुरुक्षेत्र, मत्स्य, पंचाल और शूरसेन मिलकर ब्रह्मर्षि देश कहलाता था।"

का ही एक रूप बोला जाता है।

इस लेख में यह दिखाने का यत्न किया गया है कि हिंदी की वर्तमान बोलियों के प्रदेश यहाँ के प्राचीन जनपदों से मिलते हैं। इस बात का भी दिग्दर्शन कराया गया है कि बौद्ध, हिंदू तथा मुसलमान काल में भी यह विभाग किसी न किसी रूप में थोड़े बहुत अलग रहे हैं। वर्तमान बोलियों के उद्देश तथा प्राचीन जनपदों के पूर्ण रूप से मेल न खाने के कारणों पर भी संक्षेप में प्रकाश डाला गया है।

यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि ये प्राचीन जनपद आज तक जीवित कैसे रह सके तथा अपना स्वतंत्र अस्तित्व किस प्रकार स्थिर रख सके। यदि इस प्रश्न का पूर्ण उत्तर दिया जाय तो एक स्वतंत्र लेख ही हो जायगा। इस समय थोड़े से प्रमुख कारणों को गिना कर ही संतोष करना पड़ेगा।

जैसा कि जनपद शब्द के अर्थ से विदित होता है, ये प्राचीन आर्य जातियों की भिन्न-भिन्न बस्तियाँ थीं। बड़ी नदियों के किनारे थोड़ी-थोड़ी दूर पर आर्य-जन जंगलों को काटकर मुख्य नगर या पुर बसाते थे और उसके चारों ओर अपनी बस्तियाँ बनाकर बस जाते थे। प्रत्येक ऐसा समुदाय जनपद कहलाता था और उसका केंद्र उसका पुर या नगर होता था। जनपदों के दीर्घ जीवन का मुख्य कारण इनके इन स्वतंत्र तथा पृथक् पुरों का होना प्रतीत होता है। इन विभागों के ये केंद्र आज तक बने हैं, यद्यपि ये विशेष स्थान आवश्यकतानुसार कई बार बदले गए हैं। युधिष्ठिर की राजधानी इंद्रप्रस्थ का स्थान स्थानेश्वर और दिल्ली ने क्रम से लिया। यदि अहिच्छेत्र और कांपिल्य नष्ट हो गए तो उनकी पूर्त्ति हर्षवर्धन के साम्राज्य की राजधानी कान्यकुब्ज ने की। अयोध्या और श्रावस्ती के समान लखनऊ अवध का आज भी अद्वितीय केंद्र है। मगध की प्राचीन राजधानी राजगृह का स्थान पाटलिपुत्र ने लिया जो आज भी पटना के रूप में बिहार प्रांत की राजधानी है। किन्हीं विभागों में ये स्थान सदा से एक ही रहे, जैसे मथुरा और काशी।

परिवर्तन न होने का दूसरा कारण देश के ग्रामीण जीवन का संगठन मालूम होता है। प्रत्येक गाँव अपने में पूर्ण रहता है और उसे बाहर की सहायता की बहुत कम आवश्यकता पड़ती है। मुसलमान काल में जब मध्य-देश के हिंदू नगर नष्ट हो गए थे तब ग्रामों के इस संगठन के कारण ही प्रदेशों के व्यक्तित्व की रक्षा हो सकी थी।

तीसरे, मध्यदेश की जनता के एक ही स्थान पर रहने के स्वभाव ने भी बहुत सहायता की। देश धन धान्य से पूर्ण था। घर ही पर पर्याप्त सुख था, अतः लोगों को मारे-मारे फिरने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसमें संदेह नहीं कि बाद को देश पर बड़े-बड़े आक्रमण हुए और एक प्रबल प्रवाह की तरह बाहर से लोग आए। इस अवस्था में यहाँ के लोग अपना सिर नीचा करके अपनी जन्म-भूमि को पकड़ कर बैठ गए। बहुत से लोग बह गए, बहुतों के प्राण घुटकर निकल गए। बाहर से भी रेत, पत्थर और कीच काँद ऊपर जमी किंतु बहाव निकल जाने पर लोग फिर खड़े हो गए और अपने-अपने पुरों के चारों ओर—चाहे यह पुर अयोध्या हो, या श्रावस्ती या लखनऊ—ये लोग फिर अपने पुराने ढंग का जीवन बिताने लगे।

ये ही मुख्य कारण हैं जिनसे कि कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य, कोसल, काशी, विदेह, मगध, वत्स, दक्षिण कोसल, तथा चेदि, अवंति आदि के प्राचीन जनपद आज कम से कम तीन सहस्र वर्ष बाद भी प्रायः ज्यों के त्यों जीवित हैं। यदि किसी को संदेह हो तो बोलियों के वर्तमान मानचित्र को उठाकर देख ले जो इस बीसवीं शताब्दी के प्रमाणों के आधार पर बनाया गया है, किंतु जो उस प्राचीन काल के भारत के मध्यदेश का मानचित्र मालूम होता है जब कुरुक्षेत्र पर भारत के भाग्य का निपटारा हुआ था।

भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के प्राचीन देशों और वर्तमान भाषाओं का संबंध स्पष्ट ही है। भाषाओं के आधार पर कांग्रेस महासभा भारत के इतने संतोषजनक राजनीतिक विभाग कर सकी, यह इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मध्यदेश के विभाग संतोषजनक नहीं हो सके हैं। इसका मुख्य कारण बोलियों के इन उपविभागों और उनके प्राचीन रूप के संबंध को ठीक-ठीक न समझना है। यहाँ के लोग भी अपने देश के प्राचीन रूपों को प्रायः भूल से गए हैं।

हिंदी की बोलियों का एक मानचित्र, जो ग्रियर्सन साहब की सर्वे के आधार पर बनाया गया है, साथ में दिया जा रहा है। बोलियों के विभागों के नीचे प्राचीन जनपदों के नाम भी लिख दिए हैं जिनसे ये मिलते हैं। इन जनपदों का बौद्ध, हिंदू तथा मुसलमान कालों में क्या रूप था, यह दिखाने को एक कोष्ठक दिया जा रहा है। आशा है पाठकों को इन दोनों से इस लेख के समझने में बहुत सहायता मिलेगी।

तीसरे, मध्यदेश की जनता के एक ही स्थान पर रहने के स्वभाव ने भी बहुत सहायता की। देश धन धान्य से पूर्ण था। घर ही पर पर्याप्त सुख था, अतः लोगों को मारे-मारे फिरने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसमें संदेह नहीं कि बाद को देश पर बड़े-बड़े आक्रमण हुए और एक प्रबल प्रवाह की तरह बाहर से लोग आए। इस अवस्था में यहाँ के लोग अपना सिर नीचा करके अपनी जन्म-भूमि को पकड़ कर बैठ गए। बहुत से लोग बह गए, बहुतों के प्राण घुटकर निकल गए। बाहर से भी रेत, पत्थर और कीच काँद ऊपर जमी किंतु बहाव निकल जाने पर लोग फिर खड़े हो गए और अपने-अपने पुरों के चारों ओर—चाहे यह पुर अयोध्या हो, या श्रावस्ती या लखनऊ—ये लोग फिर अपने पुराने ढंग का जीवन बिताने लगे।

ये ही मुख्य कारण हैं जिनसे कि कुरु, पंचाल, शूरसेन, मत्स्य, कोसल, काशी, विदेह, मगध, वत्स, दक्षिण कोसल, तथा चेदि, अवंति आदि के प्राचीन जनपद आज कम से कम तीन सहस्र वर्ष बाद भी प्रायः ज्यों के त्यों जीवित हैं। यदि किसी को संदेह हो तो बोलियों के वर्तमान मानचित्र को उठाकर देख ले जो इस बीसवीं शताब्दी के प्रमाणों के आधार पर बनाया गया है, किंतु जो उस प्राचीन काल के भारत के मध्यदेश का मानचित्र मालूम होता है जब कुरुक्षेत्र पर भारत के भाग्य का निपटारा हुआ था।

भारतवर्ष के अन्य प्रदेशों के प्राचीन देशों और वर्तमान भाषाओं का संबंध स्पष्ट ही है। भाषाओं के आधार पर कांग्रेस महासभा भारत के इतने संतोषजनक राजनीतिक विभाग कर सकी, यह इस बात का बहुत बड़ा प्रमाण है। यह बात ध्यान देने योग्य है कि मध्यदेश के विभाग संतोषजनक नहीं हो सके हैं। इसका मुख्य कारण बोलियों के इन उपविभागों और उनके प्राचीन रूप के संबंध को ठीक-ठीक न समझना है। यहाँ के लोग भी अपने देश के प्राचीन रूपों को प्रायः भूल से गए हैं।

हिंदी की बोलियों का एक मानचित्र, जो ग्रियर्सन साहब की सर्वे के आधार पर बनाया गया है, साथ में दिया जा रहा है। बोलियों के विभागों के नीचे प्राचीन जनपदों के नाम भी लिख दिए हैं जिनसे ये मिलते हैं। इन जनपदों का बौद्ध, हिंदू तथा मुसलमान कालों में क्या रूप था, यह दिखाने को एक कोष्ठक दिया जा रहा है। आशा है पाठकों को इन दोनों से इस लेख के समझने में बहुत सहायता मिलेगी।

हिंदी प्रदेश
वर्तमान बोलियों के विभाग और
उनका प्राचीन जनपदों से सादृश्य ।
पंजाब
सिंध
गुजरात
महाराष्ट्र
उड़ीसा
बंगाल
नेपाल
अरब का समुद्र
बंगाल की खाड़ी
अम्बाला
कुरुक्षेत्र
गढ़वाल
कुमायूं
हरिद्वार
हिंदुस्तानी
कुरु
हस्तिनापुर
बांगरू
पानीपत
दिल्ली
इन्द्रप्रस्थ
सरस्वती
बीकानेर
बरेली
ब्रजभाषा
मथुरा
भरतपुर
आगरा
शूरसेन
धौलपुर
करौली
कन्नौजी
पंचाल
कनौज
इटावा
कानपुर
नैमिषारण्य
अवधी
लखनऊ
कोसल
गोमती
गंगा
प्रयाग
अयोध्या
भोजपुरी
सरयू
काशी
मैथिली
जनकपुर
दरभंगा
विदेह
भागलपुर
चम्पा
पटना
मगही
राजगृह
मगध
सोन
पालामऊ
रांची
छोटानागपुर
बैराट
जयपुर
अजमेर
मत्स्य
जयपुरी
जैसलमीर
मरुभूमि
जोधपुर
मारवाड़ी
बूंदी
कोटा
सिरोही
उदयपुर
ग्वालियर
यमुना
बुंदेली
झांसी
चेदि
महोबा
पन्ना
कालिंजर
कौशाम्बी
वत्स
रीवा
बघेली
सागर
जबलपुर
नर्मदा
बालाघाट
मालवी
विदिशा
उज्जैन
भूपाल
अवन्ति
धारा
इंदौर
नर्मदा
सतपुरा
खंडवा
ताप्ती
रतनपुर
दक्षिण कोसल
रायपुर
महानदी
७०
७२
७४
७६
७८
८०
८२
८४
८६
८८
३०
२८
२६
२४
२२
२०

मुख्य-मुख्य कालों में जनपदों के रूप ।

	प्राचीन जनपद महाभारत के आधार पर ।	बुद्ध भगवान के समय में मध्यदेश के महाजनपद ।	चीनी यात्री ह्वेन्तसांग के आधार पर मध्यकाल के मुख्य राज्य व नगर ।	मुसलमान काल में अकबर के सूबे और कुछ हिंदू राज्य ।	वर्तमान बोलियों के विभाग
१	कुरु	कुरू	स्थानेश्वर	दिल्ली	खड़ी बोली, बाँगरू
२	पंचाल	पंचाला	अहिछत्र, कन्नौज	...	कन्नौजी
३	शूरसेन	सूरसेना	मथुरा	आगरा	ब्रज
४	कोसल	कोसला	साकेत	अवध	अवधी
५	काशी	कासी	वाराणसी	...	भोजपुरी
६	विदेह	वज्जी (मल्ला)	वैसालि	...	मैथिली
७	मगध	मगधा	मगध	बिहार	मगही
८	अंग	अंगा	चंपा	...	...
९	दक्षिण कोसल	...	महाकोसल	...	छत्तीसगढ़ी
१०	वत्स	वंसा	कौशांबी	इलाहाबाद	बघेली
११	चेदि	चेती	जेजाकभुक्ति	...	बुंदेली
१२	अवंति	अवंती	उज्जयनी	मालवा	मालवी
१३	मत्स्य	मच्छा	पारियात्र	जयपुर	जयपुरी
१४	...	...	...	जोधपुर	मारवाड़ी

३—संयुक्त प्रांत में हिंदू पुरुषों के नाम

साहित्य, सामाजिक नियम, भाषा, राजनीतिक संगठन, धार्मिक विचारावली आदि संस्कृति के भिन्न-भिन्न अंगों के समान ही स्त्री-पुरुषों के नामों पर भी देश और काल की छाप रहती है। भारतवर्ष में ही विश्वामित्र, कुमारगुप्त, तथा रामप्रसाद क्रम से वैदिक पौराणिक तथा आधुनिक काल का सहसा स्मरण दिला देते हैं। इसी प्रकार अनंत केशव चिपलूनकर के साथ सुनहरी किनारेदार पगड़ी और लाल रंग का सामने मुड़ा हुआ जूता आँखों के सामने आ जाता है, गंडासिंह से सफ़ेद साफ़ा, ऊँचा क़द और दाढ़ी-मूँछ से भरा चेहरा अलग नहीं हो पाता, ज्ञानेंद्रनाथ बोस तेल से सँवारे हुए नंगे सिर और फुफतीदार धोती के साथ स्मरण आते हैं। अपने श्याम-विहारी या रामस्वरूप के सिर पर कम से कम टोपी ज़रूर ही रहती है। मुख तथा व्यवहार अत्यंत शिष्ट कुछ-कुछ बिगड़े हुए पुराने ख़ानदानी लोगों का-सा, नीची झुकी हुई मूँछ, और किसी भी तरह के कपड़ों में आप लोग दिखलाई पड़ते हैं। इस सब से कम से कम इतना तो सिद्ध ही होता है कि नामों में देश-काल की संस्कृति का प्रतिबिंब रहता है, अतः इनके सूक्ष्म अध्ययन से संस्कृति के इतिहास पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है।

भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों के, प्रत्येक काल के, समस्त धर्मानुयायी स्त्री तथा पुरुषों के नामों का संक्षिप्त अध्ययन एक निबंध में नहीं हो सकता। इसी कारण इस विषय की बानगी के स्वरूप हिंद-प्रदेश के मध्यम श्रेणी के हिंदू पुरुषों के आधुनिक नामों को लेकर कुछ थोड़ी-सी सामग्री प्रस्तुत निबंध में संकलित करने का प्रयास किया गया है। इस सीमित विषय का भी कहीं अधिक विस्तृत तथा पूर्ण अध्ययन संभव है।

इस प्रकार के नामों का अध्ययन करने पर सबसे पहली बात जिसकी ओर ध्यान जाता है, वह है अधिकांश नामों पर धार्मिकता की छाप। हिंदू संप्रदायों में से १५ वीं और १६ वीं शताब्दी के राम अथवा कृष्ण-संबंधी संप्रदायों का प्रभाव नामों पर आज भी पर्याप्त मात्रा में चल रहा है, यद्यपि जिस तरह 'रामचरितमानस' अथवा 'सुखसागर' का पठन-पाठन मध्यम श्रेणी के हिन्दुओं के घरों में धीरे-धीरे कम हो रहा है, उसी प्रकार नामों में भी परिवर्तन प्रारंभ

हो गया है। तो भी अब तक विशेषतया अवध आदि पूर्वी प्रदेशों में नामों के अंदर किसी न किसी रूप में राम का नाम तथा व्रज आदि पश्चिमी प्रदेशों में कृष्ण का नाम बहुत अधिक पाया जाता है। इस प्रकार के नामों के अनेक उदाहरण हमें तनिक भी स्मरण करने से मिल सकते हैं।

श्रीराम, रामकुमार, रामकिशोर, रामदुलारे, जयराम, रामनरेश, रामनरायन, रामस्वरूप, रामेश्वर तथा कौशलकिशोर, कौशलकुमार, रघुवंशनरायन, अवधेशनरायन, अवधबिहारी जैसे नामों में श्रीरामचंद्र जी के स्मरण की भावना सन्निहित है। किंतु रामनाथ, रामदास, रघुनाथदास, रामसरन, रामदयाल, रामकृपाल, रघुवरदयाल, रामाश्रय, जैसे नामों के साथ, रामानंदी संप्रदाय की स्वामी और दास की भक्ति-भावना के चिह्न मिलते हैं। स्वयं रामानंद नाम कदाचित् संप्रदाय प्रवर्त्तक के नाम का अनुकरण मात्र है। क्षत्रियों में श्रीरामचंद्र जी को रामसिंह के रूप में प्रायः देखा जाता है।

काशी तथा बिहार प्रदेश की ओर राम-संबंधी नामों के विशेष रूप प्रचलित हैं, जैसे रामराज राय, रामसनेही लाल, रामलगन, रामसुमेर, रामनिहोर, रामप्रताप, रामदयाल, रामजीवन, रामनिवास, रामअवध, रामनिधि, अवधेशप्रसाद, राघवप्रसाद इत्यादि। रामचंद्र जी के साथ-साथ अनेक नामों में रामचंद्र जी के परिवार को भी स्मरण कर लिया जाता है तथा कुछ में रामचंद्र जी के नाते केवल उनके भाइयों आदि के नामों पर ही नाम रख लिये गए हैं। जैसे सीताराम, अथवा सियाराम, रामलखन, भरतराम, अथवा लक्षमनप्रसाद, शत्रुघ्नसिंह। रामचंद्र जी के अनन्य सेवक को महावीरप्रसाद अथवा हनुमानप्रसाद जैसे नामों में अमर कर दिया गया है। राम-संबंधी नामों में बाबूपन की छाप बाबूराम या रामबाबू में पाई जाती है। अपने देश में सांप्रदायिकता के भाव के साथ ही साथ उदारता का भाव भी सदा से मौजूद रहा है—रामभक्त भी अन्य देवताओं को आदर के साथ देखते थे। इस दृष्टिकोण का प्रभाव रामकिशन, कृष्णराम, तथा शिवराम जैसे नामों में स्पष्ट पाया जाता है।

धार्मिक नामों में कदाचित् राम-संबंधी नामों से अधिक श्रीकृष्णजी से संबंध रखने वाले नाम अपने प्रदेश में प्रचलित हैं। नाम बचपन में रक्खे जाते हैं, अतः राम की अपेक्षा बालकृष्ण का भाव माता-पिता को प्रायः अधिक आकर्षक लगता है। कृष्ण-संबंधी नामों की बहुत लंबी सूची बनाई

जा सकती है—जैसे श्रीकृष्ण, या श्रीकृष्णलाल या किशनलाल या कन्हैयालाल, कृष्णकुमार, कुँवरकृष्ण, कृष्णानंद, श्यामसुंदर, जगतकृष्ण, कृष्णनरायन या नरायनकृष्ण, कृष्णमोहन, गिरधारीलाल, मोहनलाल, बिहारीलाल, श्यामबिहारी, छैलबिहारी, मुकुटबिहारी, कुंजबिहारी, ब्रजनरायन, ब्रजराज, यदुनंदन, यादवेंद्र, घनश्यामदास, जनार्दनप्रसाद, मुरलीमनोहर, मुरलीधर, बंशीधर, बंशीलाल, वृंदावनलाल, गोकुलचंद, मथुरालाल। श्रीकृष्णजी के नाते ही गोविंदराम, बलदेवप्रसाद, बलभद्रप्रसाद, बलराम तथा अनिरुद्धकुमार जैसे नाम मिलते हैं। कृष्णसंप्रदायों में बाद को विकसित होने वाले राधावल्लभ आदि संप्रदायों की छाप निम्नलिखित प्रकार के नामों पर मिलती है, जैसे राधाकृष्ण, राधेश्याम, किशोरीलाल, अथवा श्यामाचरन, गोपीनाथ, गोपीचंद्र, ललिताप्रसाद। कृष्ण-संबंधी नामों में बिहारी ढंग के नाम ब्रजपतेश नंदनलाल, राधारमन या राधिकारमन, कंसदमन के ढंग के होते हैं। काशी तथा बिहार की ओर कृष्ण-संबंधी नामों की अपेक्षा राम-संबंधी नामों का अधिक प्रचार है। यह स्वभाविक ही है।

यद्यपि नामों में राम और कृष्ण से प्रभावित नाम बहुत अधिक पाए जाते हैं किंतु अब भी त्रयी के मुख्य देवता भगवान् विष्णु की भक्ति का प्रभाव नामों में कम नहीं हुआ है। इसका तात्पर्य यह है कि बाद के संप्रदायों के साथ-साथ प्राचीन वैष्णव या भागवत-धर्म का प्रभाव आज भी नामों में काफ़ी चल रहा है। इस प्रकार के नामों की बहुत लंबी सूची बन सकती है। कुछ में केवल भगवान् का स्मरण स्पष्ट शब्दों में किया जाता है, कुछ में विष्णु का रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ता है और कुछ में विष्णु के साथ लक्ष्मी जी को भी सम्मिलित कर लिया गया है। इस प्रकार के नामों के कुछ उदाहरण नीचे दिए जाते हैं, जैसे प्रभुदयाल, प्रभुनाथ, जगदीशप्रसाद, जगदीशनरायन, जगदीशचंद्र, जगन्नाथ, त्रिलोकीनाथ, विशंभरनाथ, ईश्वरसहाय, दीनानाथ, नरायनदत्त, नरोत्तमदत्त, नरोत्तमप्रसाद, पुरुषोत्तमदास, लीलाधर, हरिवंश, केशवप्रसाद, बालमुकुंद तथा उदयनरायन, अभयनरायन, मुकुंदलाल, श्रीनाथ, श्रीनरायन, श्रीनिवास, लक्ष्मीविहारी, लक्ष्मीनरायन, लक्ष्मीप्रसाद, कमलाप्रसाद, रमेशकुमार, रमेशचंद्र, रमाकांत, कमलापति। भगवान् के नाते ही सालिग्राम, सत्यनरायन, तुलसीराम, शेषनरायन, अनंतलाल, शेषनाथ, बैकुंठनाथ, जैसे नाम चलते हैं। काशी प्रदेश की ओर श्रीपतिनरायन, छविनरायन जैसे नाम, राजस्थान की

ओर रनछोरदास, तथा विट्ठलदास जैसे नाम तथा पहाड़ पर नरायनदत्त जैसे नाम प्रचलित हैं।

अपने प्रांत में वैष्णवधर्म के साथ-साथ शैवधर्म भी बराबर चल रहा है, अतः बहुत से नामों पर शिवभक्ति की छाप मिलती है। इनकी लंबी सूची बनाई जा सकती है। इन नामों में से कुछ में शिव को परमेश्वर के रूप में स्मरण किया गया है, कुछ में त्रयी के शिवजी के रूप में तथा कुछ के साथ पार्वतीजी को भी शामिल कर लिया जाता है, जैसे, विश्वनाथ, महादेवप्रसाद, महेशप्रसाद, महेशचन्द्र, रुद्रप्रसाद, शिवदत्त, शिवचरन, शिवप्रसाद, कृपाशंकर, शिवशंकर, प्रेमशंकर, शंकरदयाल, शंभुनाथ, भोलानाथ, काशीनाथ, अमरनाथ, कैलाशचन्द्र, चंद्रभूषन, चंद्रशेखर, गौरीशंकर, उमाशंकर, देवीशंकर, रमाशंकर। शिवजी के नाते ही हरनंदन, हरकिशोर, गनेशप्रसाद, गनपत आदि नाम चलते हैं। वैष्णव और शैवभक्ति का सामंजस्य हरिशंकर, हरनरायन, हरगोविंद जैसे नामों में मिलता है। काशी तथा बिहार की ओर शिवप्रसन्न, शिवनरेश, शिवध्यान, पशुपतिनाथ, भुवनेश्वरप्रसाद, हरिहरप्रसाद, जैसे नाम चलते हैं। परमात्माप्रसाद, दीनदयाल, ब्रह्मानंद, ब्रह्मेश्वर साधारण धार्मिक नाम हैं।

शैव धर्मों में शक्ति की उपासना बहुत प्राचीन काल से उपस्थित मिलती है, अतः इसकी छाप भी अनेक नामों में चल रही है, जैसे माताप्रसाद, ईश्वरीप्रसाद, देवीप्रसाद, भगवतीप्रसाद, शीतलाप्रसाद, शारदाप्रसाद, दुर्गाप्रसाद, कालिकाप्रसाद, ज्वालाप्रसाद, कालीचरन, भगवतीचरन, मातासरन।

यहाँ यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि त्रयी के तीसरे प्रमुख देवता ब्रह्मा नामों से भी प्रायः लुप्त हो गए हैं।

धार्मिक तीर्थस्थानों तथा नदियों आदि से संबंध रखनेवाले नाम भी प्रायः मिलते हैं। भावुक लोग तीर्थों आदि पर पुत्र-कामना प्रकट कर आते हैं और पुत्र होने पर उसी तीर्थ या नदी के नाम पर पुत्र का नाम रख लेते हैं। कभी-कभी इन स्थलों पर जन्म होने के कारण भी बच्चों के ऐसे नाम पड़ जाते हैं, जैसे काशीप्रसाद, अयोध्याप्रसाद, गोकुलप्रसाद, द्वारिकाप्रसाद, मथुराप्रसाद, रामेश्वरप्रसाद, बद्रीप्रसाद, मथुरादत्त, प्रयागदत्त, तथा संगमलाल, त्रिबेनीसहाय, त्रिबेनीलाल, बेनीप्रसाद, गंगाप्रसाद, भागीरथीप्रसाद, सरजूप्रसाद, गोमतीप्रसाद, नर्बदाप्रसाद, जमुनाप्रसाद, जमुनादत्त। काशी-बिहार की ओर विंध्याचलप्रसाद,

मिथिलाप्रसाद जैसे नाम भी चलते हैं यद्यपि चित्रकूटप्रसाद अभी मुझे नहीं मिले हैं। भक्ति-संप्रदायों की गुरु-भक्ति की छाप गुरुदयाल, गुरुप्रसाद, जैसे नामों में मिलती है।

पश्चिमी संयुक्तप्रांत में वैश्यों के बीच जैनधर्म का प्रभाव अभी थोड़ा बहुत चला जाता है, अतः उधर ऋषभदास, अथवा सिद्धनाथ, जैसे नाम अक्सर मिल जाते हैं। सुखपाल तथा सूरजमल, जैसे नाम भी जैनों में ही प्रायः मिलते हैं। साधारण पौराणिक नाम रखने की प्रवृत्ति बहुत कम हो गई है तब भी हरिश्चंद्र, अथवा मार्कण्डेयसिंह कभी-कभी मिल ही जाते हैं।

अपने प्रदेश के नामों में धार्मिक नाम ६०, ७० प्रतिशत से भी अधिक इस अधार्मिक युग में भी चल रहे हैं। किंतु कुछ लौकिक सार्थक नामों का भी चलन है। यह प्रवृत्ति क्षत्रियों और ठाकुरों में विशेष मिलती है। प्रायः इस प्रकार के नामों के पीछे बल, तेज, आदि का भाव प्रधान रहता है, जैसे त्रिलोकसिंह, प्रतापसिंह, विक्रमाजीतसिंह, महीपालसिंह, दिग्विजयसिंह, वीरेश्वर-सिंह। पूरब में सभाजीतसिंह, सर्वजीतसिंह, तिलकधारीसिंह, अथवा राजदेव-प्रसाद, जैसे नाम अधिक चलते हैं। विजयचंद्र, राजनाथ, पृथ्वीनाथ, जयपाल, तेजप्रताप, प्रतापनरायन, बलवंतप्रसाद, राजदेव, जैसे नाम क्षत्रियों के अतिरिक्त अन्य जातियों में भी मिल जाते हैं। निम्न प्रकार के नामों में वैदिक या पौरा-णिक इंद्र देवता का उतना स्मरण नहीं किया गया है जितना ऐश्वर्य की भावना को लाने का यत्न किया गया है, जैसे इंद्रदेवनरायन, राजेंद्रप्रताप, सुरेंद्रप्रताप, इंद्रपाल। गजराज अपने ढंग का निराला नाम है। ज्योतिप्रकाश, सूरजनरायन, सूरजभान, दिवाकरसिंह, आदित्यकिशोर, आदित्यप्रसाद, आदित्य-प्रकाश, भानुप्रताप, चंद्रनरायन, पूरनचंद्र, फूलचंद, शरच्चंद, ताराचंद, श्रीकर, सूर्य तथा चंद्र संबंधी नामों में तेज अथवा कांति के साथ धार्मिक भावना भी रहती है। अक्सर लोग अपने बच्चे को कुल का प्रकाशक, धन या सौंदर्य का अवतार, ऐश्वर्य तथा सुख की खान अथवा स्नेह की मूर्ति तथा असाधारण आत्मा समझते हैं। इस स्वाभाविक प्रवृत्ति के कारण निम्न प्रकार के नाम सर्वसाधारण में काफ़ी प्रचलित हैं—कुलदीपनरायन, हीरालाल, जवाहरलाल, मोतीलाल, जगतभूषन, निधिपाल, रतनलाल, सुदर्शनलाल, सुंदरलाल, मनोहरलाल, गुलाबचंद, मदनमोहन, मनमोहन, सुखदेव, देवनंदन, महानंद, लालजी, परमानंदलाल, छोटेलाल, परमहंस, हंसस्वरूप, इत्यादि।

हर्षोत्पादक ऋतुओं का भाव लेते हुए निम्न प्रकार के नाम रक्खे जाते हैं, जैसे बसंतलाल, होरीलाल। कभी-कभी इन अवसरों पर पैदा होने के कारण भी ऐसे नाम पड़ जाते हैं। जिनके बच्चे ज़िंदा नहीं रहते हैं वे उपेक्षा दिखलाने के लिए शिशु को ज़मीन पर ज़रा घसीट देते हैं, इसी कारण कभी-कभी फेंकूमल, कूड़ामल, घसीटेराम जैसे नाम सुनने को मिल जाते हैं। छः उँगलियों के बच्चे का नाम अक्सर छंगामल या छंगालाल रख दिया जाता है। दुखीलाल नाम का कारण मैं अभी तक ठीक नहीं समझ पाया हूँ।

मुसलमान काल का प्रभाव अथवा विदेशी शब्दावली बहुत कम नामों में मिलती है, किंतु कुछ नाम इस प्रकार के अवश्य चल रहे हैं, जैसे साहबज़ादेसिंह, राजेंद्रबहादुर, फ़तेहबहादुर, जंगबहादुर, तेजबहादुर, विजयबहादुर, इक़बालनरायन, इक़बालबहादुर, फ़तेहचंद, भगवानबख्शसिंह, रोशनलाल, शादीलाल इत्यादि।

नामों के संबंध में बिहार तथा काशी प्रदेश की विशेषता ऊपर बतलाई जा चुकी है। प्रादेशिकता की दृष्टि से अपने प्रांत के पहाड़ों पर प्रायः दत्त या आनंद अंत वाले नाम बहुत प्रचलित हैं, जैसे पद्मादत्त, रामदत्त, गोपालदत्त, विशंभरदत्त, धर्मानंद, केवलानंद, घनानंद, सत्यानंद, देवानंद, सर्वानंद। क्षत्रियों में पहाड़ पर भी सिंह अंत वाले नामों का विशेष चलन है।

इधर बीसवीं शताब्दी में नामों पर कुछ नए प्रभाव पड़ रहे हैं। आर्यसमाज के प्रभाव के कारण सार्थक तथा वैदिक धर्म के विचारों को लेते हुए नाम रखने का चलन फैला, इसके फलस्वरूप ओम्प्रकाश, ब्रह्मेश्वर, ब्रह्मानंद, सत्यदेव, सत्यव्रत, धर्मदेव, दयानंद जैसे नाम सुनाई पड़ने लगे हैं। नामों में शर्मा, वर्मा तथा गुप्त लगाने की प्रवृत्ति भी आर्यसमाज के प्रभाव के ही फलस्वरूप है। दास तो वैष्णव प्रभाव से ही काफ़ी संख्या में मिलता था।

बंगाली नामों का प्रभाव भी इधर काफ़ी पड़ा है। इंद्र अंत वाले नाम प्रायः बंगाली नामों के अनुकरण में रक्खे गए हैं। कुछ अन्य नाम भी इस श्रेणी में रक्खे जा सकते हैं। ऐसे नामों की काफ़ी लंबी सूची बन सकती है, जैसे भूपेंद्र, वीरेंद्र, नरेंद्र, सुरेंद्र, नगेंद्र, रवींद्र, देवेंद्र, राजेंद्र, नृपेंद्र, धीरेंद्र, कवींद्र तथा अरविंद, अविनेश, दिनेश, इत्यादि।

नामों के रखने में पश्चिमी प्रभाव अभी दृष्टिगोचर नहीं होता—जार्ज, जीराव नाम अपवाद स्वरूप है—किंतु नामों के गठन पर इसका विशेष

प्रभाव पड़ा है। पश्चिमी प्रभाव के पहले नाम प्रायः दो शब्दों से बने होते थे। किंतु यह पश्चिमी प्रभाव का ही फल है कि एक तीसरा शब्द भी नामों में जुड़ने लगा है। यह तीसरा शब्द प्रायः जातिवाचक होता है, जैसे मिश्र, चतुर्वेदी, तिवारी, दुबे, अवस्थी, पांडे, मालवीय, पाठक, शुक्ल, जोशी, वाजपेयी, दीक्षित, नागर, सिनहा, सक्सेना, माथुर, श्रीवास्तव, अग्रवाल, जैसवाल, माहेश्वरी, अरोरा, सेठ, साह, नेगी, यादव, चौहान, भार्गव, पालीवाल, खत्री, टंडन। कभी-कभी गोत्र, आस्पद या अल्ल सूचक शब्द भी लगाए जाने लगे हैं, जैसे भारद्वाज, चौधरी, जौहरी, अदावाल, खरे, गोइल, गोस्वामी, सपरू, नेहरू, काक इत्यादि। किंतु यह तो अध्ययन का एक स्वतंत्र ही विषय है। पश्चिमी प्रभाव सब से अधिक नामों के संक्षिप्त रूप देने में मिलता है, जैसे रामप्रसाद त्रिपाठी अब पूर्णरूप में हम लोगों को बहुत कम दिखलाई पड़ते हैं। एस० सी० जेम्स के वज़न पर ये अब प्रायः आर० पी० त्रिपाठी हो गए हैं। मेरे एक मित्र पंडित रघुनाथप्रसाद त्रिवेदी अपने को र० प्र० त्रिवेदी लिखा करते थे। अंग्रेज़ी प्रभाव के रहते हुए भी स्वदेशीपन की इस तरह की छाप अभी अत्यंत असाधारण है।

इस छोटे से निबंध में संयुक्तप्रांत के हिंदू पुरुषों के नामों के संबंध में कुछ मुख्य प्रवृत्तियों का उल्लेख किया गया है। नामों के इस संक्षिप्त अध्ययन से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अपने देश पर धार्मिकता, विशेषतया पौराणिक और भक्ति-संप्रदायों की छाप इस बीसवीं शताब्दी में भी विशेष कम नहीं हुई है। इस्लाम का प्रभाव नामों पर विशेष नहीं पड़ा। नवीनता के लक्षण जहाँ-तहाँ दिखलाई पड़ने लगे हैं, विशेषतया सार्थक नामों में। लेकिन वे अभी तो दाल में नमक के ही बराबर हैं। पश्चिमी नक़ल में रामप्रसाद त्रिपाठी का आर० पी० त्रिपाठी हो जाना तो केवल इतना ही जतलाता है कि त्रिपाठी जी ने धोती-चादर छोड़कर समय की आवश्यकता के अनुरूप कोट-पतलून पहिन लिया है। उनका हाड़-मांस नहीं बदला है। वही पुराना चला जा रहा है।

४—अहल्या-उद्धार की कथा का विकास

पौराणिक कथाओं के विकास का इतिहास बड़ा रोचक है। उदाहरण के लिये यहाँ अहल्या-उद्धार की कथा के भिन्न-भिन्न रूप दिये जा रहे हैं। विश्वास है, पाठकगण विकास की दृष्टि से इन्हें अत्यंत रोचक पावेंगे।

अहल्या की कथा का सब से प्रथम उल्लेख ब्राह्मण ग्रंथों[१] में आता है। शतपथ-ब्राह्मण में एक स्थान पर इंद्र को "अहल्यायै जार" (III, ३,४, १८) कहा गया है। षड्विंश-ब्राह्मण (१, १) में "अहल्यायै जार" की व्याख्या करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि इंद्र अहल्या-मैत्रेयी का जार था। जैमिनीय ब्राह्मण (२,७९) में भी इसी प्रकार का एक उल्लेख मिलता है। किंतु अहल्या की कथा का विस्तार-पूर्वक वर्णन ब्राह्मण-ग्रंथों में नहीं मिलता। अहल्या-उद्धार का तो बिलकुल ही उल्लेख नहीं है।

अहल्या-उद्धार की कथा का पहला विस्तृत वर्णन[२] वाल्मीकि-रामायण (बालकांड, सर्ग ४८-४९) में मिलता है। वाल्मीकि की कथा का सार इस प्रकार है—

मिथिला के उपवन में एक पुराने, निर्जन किंतु रम्य आश्रम को देखकर रामचंद्र ने विश्वामित्र से पूछा कि भगवन्! यह किसका आश्रम था, और अब क्यों ख़ाली पड़ा है। इस पर महामुनि विश्वामित्र ने नीचे लिखी कथा सुनाई। पूर्व-काल में यह महात्मा गौतम का आश्रम था, और वह अहल्या-सहित यहाँ रहा करते थे। एक बार सहस्राक्ष शचीपति मुनि-वेष धारण करके आए, और ऋतुमती अहल्या से संगम की प्रार्थना की। अहल्या राज़ी हो गई। जिस समय इंद्र वापस जाने लगे, तो कुटी के द्वार पर महामुनि गौतम ने, जो कुटी की ओर आ रहे थे, उन्हें देख लिया। मुनि-वेषधारी इंद्र को देख कर मुनि को बड़ा क्रोध आया, और उन्होंने शाप दिया कि तू नपुंसक हो जा। ऐसा ही हुआ भी। इंद्र को शाप देकर उन्होंने अपनी

---

(१) देखिए, कीथ-मैकडानेल के वैदिक इंडेक्स में "अहल्या मैत्रेयी"।

(२) बाबू शिवनंदनसहाय द्वारा विरचित गोस्वामी तुलसीदास के जीवनचरित्र (पृष्ठ ४०४-४०५) में इस विषय का प्रथम उल्लेख किया गया है।

भार्या को भी शाप दिया कि तू निराहार, केवल वायु-भक्षण कर, भस्म-शायिनी, तप करती हुई और सब भूतों की दृष्टि से छिपी हुई हज़ारों वर्षों तक इस आश्रम में रहेगी। जब दशरथात्मज राम इस घोर वन में आवेंगे, तब तू पवित्र होगी, और उनके आतिथ्य द्वारा लोभ-मोह से रहित हो, शरीर धारण कर मुझसे मिल सकेगी। इस प्रकार दुराचारिणी अहल्या को शाप दे, महामुनि गौतम इस आश्रम को छोड़ तप करने के लिये हिमालय को चले गए।

इसके अनंतर विश्वामित्र ने इंद्र के पुरुषत्व लाभ करने की कथा राम को सुनाई, और अंत में आश्रम में प्रवेश कर महाभागा अहल्या के तारने को कहा। विश्वामित्र के वचन सुन राम-लक्ष्मण ने आश्रम में प्रवेश किया, और वहाँ तप की कांति से चमकनेवाली, सुर और असुर, दोनों के लिये दुर्निरीक्ष्य, धुएँ से ढकी हुई अग्निशिखा, तुषार से ढकी हुई पूर्ण चंद्रप्रभा अथवा बादलों में छिपी हुई सूर्य-प्रभा के समान देवी अहल्या को देखा। रामचंद्र के दर्शन से शाप का अंत हो गया, और उन लोगों को अहल्या के साक्षात् दर्शन हुए। तब राम-लक्ष्मण ने हर्षयुक्त हो, अहल्या के पैर छुए और गौतम के वचनों का स्मरण कर अहल्या ने भी उन लोगों से भेंट की तथा पाद्य, अर्घ्य और आतिथ्य द्वारा सत्कार किया। यह देख देवताओं ने पुष्प-वृष्टि की और दुंदुभी बजाई तथा गंधर्व और अप्सराओं ने बड़ा उत्सव मनाया। अहल्या-सहित सुखी हो महामुनि गौतम ने भी राम का अच्छी तरह सत्कार किया। तदनंतर रामचंद्र विदा हो मिथिला पहुँचे।

अहल्या-उद्धार की कथा का दूसरा विस्तृत वर्णन हमें अध्यात्म-रामायण (बालकांड, सर्ग ५) में मिलता है जो अध्यात्म-रामायण के वर्णन का आरंभ वाल्मीकि के सदृश ही है। मिथिला जाते हुए मार्ग में निर्जन आश्रम को देखकर रामचंद्र ने विश्वामित्र से इस संबंध में प्रश्न किया और विश्वामित्र ने इंद्र के दुराचार तथा गौतम द्वारा इंद्र के शाप की कथा सुनाई। तदनंतर हाथ जोड़े हुए और काँपती हुई अहल्या को देखकर गौतम बोले कि हे दुष्टे! तू निराहार, दिन-रात तप करती हुई, धूप, वायु और वर्षा को सहन करती हुई, हृदय-स्थित परमेश्वर राम का एकाग्र मन से ध्यान करती हुई मेरे आश्रम में शिला पर रह[1]। यह मेरा आश्रम समस्त जीवधारियों से रहित हो जावेगा। हज़ारों वर्ष बीतने पर दाशरथि राम छोटे भाई-सहित आवेंगे और जब वे तेरे

(१) 'शिलायां तिष्ठ' का अर्थ टीकाकार 'लीना भूत्वेति शेषः' करके कहते हैं।

द्वारा आश्रित शिला को पैर से छुएँगे, तब तू पाप-रहित हो, भक्ति से राम की पूजा कर तथा परिक्रमा और नमस्कार कर शाप से मुक्त होगी और पूर्ववत् मेरी शुश्रूषा सुख-पूर्वक कर सकेगी। ऐसा कह गौतम मुनि हिमालय को चले गए। यह कथा सुनाकर विश्वामित्र रामचंद्रजी का हाथ पकड़ कर ले गए और अहल्या को दिखला कर उसे पवित्र करने को कहा। तब राम ने पैर से शिला को छुआ, और तपस्विनी अहल्या को देख नमस्कार कर "मैं राम हूँ" ऐसा कहा।

अहल्या ने जब रामचंद्र को देखा, जो पीत कौशेय वस्त्र धारण किए हुए थे, चार हाथों में शंख, चक्र, गदा, पद्म लिए हुए थे। धनुर्बाण साथ में था और लक्ष्मण उनके पीछे थे, तो गौतम के वचन का स्मरण कर उसे अत्यंत हर्ष हुआ। वह समझ गई कि वे साक्षात् नारायण हैं, और उसने अर्घ्यादि से विधिवत् उनकी पूजा की व 'दण्डवत्' प्रणाम किया। फिर उठकर राजीव-लोचन राम को देख, पुलकायमान हो, गद्गद-वाणी से बोली कि हे जगन्नि-वास! जिन चरण-कमलों का ध्यान एकाग्र मन से शंकर आदि करते हैं, जिन चरण-कमलों के पराग से भागीरथी पवित्र हुई है और जिन चरण-कमलों की सेवा लक्ष्मी वक्षःस्थल पर रख करती हैं, उन आपके चरण-कमलों के रज-कण से मैं कृतार्थ हो गई। इसके अनंतर अहल्या ने एक बड़े स्तोत्र द्वारा नारायण के अवतार रामचंद्र की स्तुति की, और फिर प्रणाम कर आज्ञा ले, अपने पति के पास चली गई। श्री महादेव पार्वतीजी से कहते हैं कि अहल्या के बनाए इस स्तोत्र को जो कोई भक्ति से पढ़ता है, वह सब पापों से छूट जाता है और परब्रह्म को प्राप्त होता है। भक्ति-पूर्वक राम का हृदय में ध्यान कर जो पुत्रादि के निमित्त यदि कोई वंध्या स्त्री भी इसका पाठ करे, तो साल भर में उसे सुपुत्र प्राप्त हो जाय। ब्रह्मघ्न, गुरुतल्पग, स्तेयी, सुरपि, मातृ-भ्रातृ-विहिंसक तथा सदा भोग के लिये आतुर पुरुष भी यदि रघुपति का ध्यान करते हुए भक्ति-पूर्वक इस स्तोत्र का नित्य जाप करे, तो मुक्ति पा जावे, साधारण आचारयुक्त पुरुष की तो बात ही क्या है।

अहल्या-उद्धार की कथा का तीसरा, किंतु सर्वमान्य रूप हमें रामचरित-मानस (बालकांड, दोहा २४२-२४३) में मिलता है। हिंदी-संसार इससे भली प्रकार परिचित है, किंतु तो भी तुलना के लिये हम उसे यहाँ ज्यों का त्यों उद्धृत किए देते हैं—

धनुषयज्ञ सुनि रघुकुल नाथा; हरषि चले मुनिवर के साथा।
आश्रम एक दीख मग माहीं; खग मृग जीव जंतु तहँ नाहीं।
पूछा मुनिहिं शिला प्रभु देखी; सकल कथा मुनि कही बिसेखी।
गौतम नारी श्रापबस, उपल-देह धरि धीर।
चरन-कमल-रज चाहति, कृपा करहु रघुबीर ॥२४२॥

छंद—परसत पद पावन सोक नसावन प्रगट भई तपपुंज सही,
देखत रघुनायक जन-सुख-दायक सनमुख होइ कर जोरि रही।
अति प्रेम अधीरा पुलक सरीरा मुख नहिं आवै बचन कही,
अतिसय बड़ भागी चरनन्हि लागी जुगल नयन जलधार बही।
धीरजु मन कीन्हा प्रभु कहँ चीन्हा रघुपति-कृपा-भगति पाई,
अति निर्मल बानी अस्तुति टानी ज्ञानगम्य जय रघुराई।
मैं नारि अपावन प्रभु जगपावन रावन-रिपु जन-सुखदाई,
राजीव बिलोचन भव-भय-मोचन पाहि-पाहि सरनहि आई।
मुनि श्राप जो दीन्हा अति भल कीन्हा परम अनुग्रह मैं माना,
देखेउँ भरि लोचन हरि भव-मोचन इहै लाभ संकर जाना।
विनती प्रभु मोरी मैं मति भोरी नाथ न माँगौं बर आना,
पद-कमल-परागा रस अनुरागा मम मन मधुप करै पाना।
जेहि पद सुरसरिता परम पुनीता प्रगट भई शिव सीस धरी;
सोइ पद पङ्कज जेहि पूजत अज, मम शिर धरेउ कृपाल हरी।
एहि भाँति सिधारी गौतम-नारी बार-बार हरि-चरन परी;
जो अति मन भावा सो बरु पावा गइ पतिलोक अनंद-भरी।
अस प्रभु दीनबंधु हरि, कारन रहित दयाल।
तुलसिदास सठ ताहि भजु, छाँड़ि कपट जंजाल ॥२४३॥

अहल्या-उद्धार की कथा के संबंध में इन भिन्न-भिन्न वर्णनों को पढ़कर नीचे लिखी बातों का पता चलता है—

१. ब्राह्मण-ग्रंथों के उल्लेखों से पता लगता है कि अहल्या की कथा का आधार ऐतिहासिक नहीं है; बल्कि कदाचित् धार्मिक-रूपक से इसका प्रारंभ हुआ है। टीकाकारों ने इस रूपक की तरह-तरह से व्याख्याएँ की हैं। कुमारिलभट्ट ने तंत्र वार्त्तिक के शिष्टाचार-प्रकरण में एक व्याख्या दी है जिसका भाव यह है। इंद्र का अर्थ है—परमैश्वर्यवाला और यह शब्द

सूर्य के लिये प्रयुक्त हुआ है। दिन (अह) में छिपने (ल्या) के कारण रात्रि को अहल्या कहते हैं। क्योंकि सूर्य (इंद्र) रात्रि (अहल्या) को जीर्ण करता है इसलिये इंद्र को अहल्या का जार कहा है। पर-स्त्री-व्यभिचार के कारण जार नहीं कहा है। एक बात और ध्यान देने योग्य है। ब्राह्मण-ग्रंथों में अहल्या की कथा का पूर्वार्द्ध तो मिलता है; किंतु अहल्या उद्धार का बिलकुल भी उल्लेख नहीं हैं। अहल्या की कथा में यह अंश बाद को मिलाया गया है और इसका उद्देश्य रामचंद्र का विष्णु-अवतार होना— सिद्ध करना मालूम होता है।

२. वाल्मीकि ने इंद्र के दुराचार की कथा को विस्तार-पूर्वक दिया है। अहल्या के शाप के संबंध में विशेषता यह है कि उसके शिला होने का बिलकुल भी उल्लेख नहीं है—वह केवल अदृष्ट हो गई। दूसरी विशेषता यह है कि राम की पद-रज से अहल्या का उद्धार हुआ—इस बात का उल्लेख भी नहीं मिलता। राम के आश्रम में आने से ही अहल्या पवित्र हो गई है। उल्टे राम और लक्ष्मण ने अहल्या के पैर छुए हैं। टीकाकारों ने यहाँ पर बहुत खींचतान की है; किंतु 'बदले में अहल्या ने भी राम के पैर छुए' यह अर्थ भी वास्तव में निकलता नहीं है। मालूम होता है कि अहल्या-उद्धार की कथा का यह रूप उस समय का है, जब स्वयं राम पवित्र समझे जाते थे और उनके नाम अथवा पदरज की पवित्रता तक उपासकों की कल्पना नहीं पहुँच सकी थी।

३. अध्यात्म-रामायण में भी अहल्या शिला नहीं हुई है; बल्कि शिला पर बैठकर तप करने लगी है और जब रामचंद्रजी ने उस शिला को पैर से छुआ, तो अहल्या पाप-रहित हो शाप-मुक्त हो गई। अध्यात्म-रामायण के वर्णन की विशेषता यह है कि इसमें अहल्या-उद्धार के अंश का विस्तृत वर्णन है और अहल्या के मुख से राम-रूपधारी नारायण की प्रशंसा एक लंबे स्तोत्र द्वारा कराई गई है। वास्तव में अध्यात्म-रामायण का वर्णन अहल्या की कथा के बीच के रूप का द्योतक है। इंद्र के दुराचार तथा राम-द्वारा उद्धार दोनों का वर्णन है यद्यपि दूसरा अंश अधिक महत्व-पूर्ण है। शिला का भी उल्लेख आया है लेकिन अधिक स्वाभाविक ढंग से है।

४. अहल्या के शिला हो जाने का भाव भी बहुत पुराना है। कालिदास

ने रघुवंश[1] के ग्यारहवें सर्ग में, दो श्लोकों (३३-३४) में अहल्या की कथा दी है। यहाँ 'शिलामयी गौतम-वधू' का 'राम-पद-रज' के अनुग्रह से पुनः शरीर धारण करने का स्पष्ट उल्लेख है। पद्म-पुराण (१६, ७-१३) में अहल्या-उद्धार की कथा ताड़का-वध से पहले दी गई है। गौतम ने शाप दिया है कि 'शिला भव' और अंत में वायु ने राम-पद-रज शिला पर डाली है। कथा सरित्सागर (३, अ० १७) में भी अहल्या की कथा आई है। इसके अनुसार गौतम ने निम्नलिखित शाप दिया था :—हे पापिन, चिरकाल तक राम के दर्शन पर्यंत शिला भाव को प्राप्त हो।

५. गोस्वामी तुलसीदास ने अहल्या की कथा को एक आदर्श राम-भक्त की दृष्टि से चित्रित किया है। सत्य हृदय गुसाईं जी को अहल्या के दुराचार की कथा वर्णन करना रुचिकर नहीं प्रतीत हुआ, अतः उन्होंने उसका स्पष्ट रूप से उल्लेख भी नहीं किया है—'पूछा मुनिहि सिला प्रभु देखी; सकल कथा मुनि कही बिसेखी।' उनकी कथा तो अहल्या-उद्धार से आरंभ होती है। किंतु अहल्या का शाप-वश 'उपल-देह' धारण करना तथा 'राम-चरन-रज' की कृपा से प्रकट होने का उल्लेख गुसाईं जी ने स्पष्ट शब्दों में किया है। मानस की अहल्या-उद्धार की कथा में अहल्या द्वारा स्तुति मुख्य अंश है। इस अंश पर अध्यात्म-रामायण की स्तुति का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है। गुसाईं जी ने अहल्या की कथा को इस ढंग से लिखा है कि पाठक का ध्यान अहल्या के दुराचार की ओर बिलकुल भी नहीं जाता ; बल्कि पतित-पावन रामचंद्रजी की अनन्य भक्ति में तल्लीन हो जाता है।

जो हो, इतना तो स्पष्ट है कि अहल्या का शाप-वश शिला हो जाना और राम-पद-रज से मुक्त होने का भाव वैसा अटल सत्य नहीं है—जैसा हम लोगों का मस्तिष्क समझने लगा है। वाल्मीकि-रामायण में ही—जहाँ इस कथा का प्रथम विस्तृत वर्णन मिलता है—इन दोनों बातों का उल्लेख नहीं है। अहल्या-उद्धार की यह प्रसिद्ध पौराणिक कथा ब्राह्मण-ग्रंथों के 'अहल्याजार' इंद्र से प्रारंभ होकर अनेक रूप धारण करने के उपरांत 'अहल्या-तारक' राम की भक्ति में लय हो जाती है।

---

१. बाबू शिवनंदनसहाय ने 'रघुवंश और 'पद्मपुराण' के उल्लेखों की ओर पाठकों का ध्यान आकर्षित किया है।

५—हिंदी भाषा-संबंधी अशुद्धियाँ

यदि भाषा-विज्ञान के उच्चतम सिद्धांत से देखा जाय तो वास्तव में अशुद्धि कोई चीज़ ही नहीं है। संस्कृत में 'क्षेत्र' रूप शुद्ध था, तो हिंदी में 'खेत' शुद्ध है; यदि ब्रजभाषा में 'बड़ो' शुद्ध है, तो खड़ी बोली में 'बड़ा' शुद्ध है। किसी निश्चित देशकाल में बहुसंख्यक लोगों के प्रयोग से भिन्न प्रयोग को अशुद्ध नाम से पुकारा जाता है। इस तरह किसी भी भाषा का शुद्ध रूप देश, काल तथा बहुमत से सीमित है। इन सीमाओं की मर्यादा को तोड़ने से भाषा में उच्छृंखलता आने का भय होता है, इसलिए इसे क़ायम रखने की ओर शिष्ट समाज, समालोचक तथा वैयाकरण वर्ग सदा यत्नशील रहता है। किंतु यह सोच कर वास्तव में निराशा होती है कि यह समस्त प्रयत्न अल्पकालीन है। गुरु के हिंदी व्याकरण के लिये सौ दो सौ वर्ष के अंदर ही कात्यायन और वररुचि की आवश्यकता पड़ेगी।

अशुद्धियाँ होने के अनेक कारण हैं—

(१) लेखक या बोलने वाले की अपनी बोली भिन्न होने के कारण आदर्श साहित्यिक भाषा में प्रादेशिक प्रयोग।

(२) उच्चारण की असावधानी से लिखावट में भूलों का आ जाना।

(३) लिपिदोष के कारण अशुद्धियाँ।

(४) विद्वत्ता प्रकट करने के मोह के कारण त्रुटियाँ। तथा

(५) उतावली के कारण भूलचूकें।

प्रादेशिक प्रयोग पहली कक्षा के विद्यार्थी की भाषा से ले कर हिंदी के बड़े से बड़े लेखक तक के लेख में पाए जाते हैं। बिहार प्रांत तथा काशी प्रदेश की हिंदी की बोलियों में 'ने' के प्रयोग तथा क्रिया में लिंग-भेद का प्रायः अभाव है। इस कारण इन प्रदेशों के लोग जब हिंदी लिखते या बोलते हैं तो इस तरह की ग़लतियाँ अक्सर हो जाती हैं। क्रिया में ठीक लिंग प्रयोग की कठिनाई गुणवाचक या जड़ वस्तुओं की द्योतक संज्ञाओं के साथ विशेष पड़ती है—'जलराशि चाँदी ऐसा सफ़ेद मालूम पड़ता था' 'पुस्तक बनाया है'; 'तकलीफ़ मालूम होगा'। 'ने' का या तो प्रयोग छोड़ दिया जाता है, या कभी-कभी ग़लत प्रयोग हो जाता है। जैसे, 'वह बड़ी बुद्धिमानी से काम

लिया', 'जयसिंह छोड़ दिये', 'दुनिया में कोई ऐसा व्यक्ति नहीं जो धोखा न खाये हो' या 'मैंने ब्राह्मण-कुल में जन्म लेकर ब्रज चला आया'। ब्रज प्रदेश के विद्यार्थी 'करौ' (करो), 'सैना' (सेना), 'एसा' (ऐसा), 'केसी' (कैसी), 'तपाइ के' (तपा के) लिखते अक्सर पाए जाते हैं। मेरठ के तरफ़ की सरहिंदी बोलने वाले 'नहीं जाने का' (नहीं जायेगा), 'गेर दिया' (गिरा दिया), 'दीखे है' (दिखलाई पड़ता है) जैसे प्रयोग कर बैठते हैं। इसी प्रकार प्रादेशिक प्रभावों के कारण 'पैर' के स्थान पर 'गोड़', 'निगलना' के स्थान पर 'लीलना', 'सोना' के स्थान पर 'सूतना' आदि अक्सर मिल जाते हैं।

विद्यार्थी-वर्ग की अधिकांश अशुद्धियों का कारण प्रारंभ से शुद्ध उच्चारण की ओर ध्यान न दिलाया जाना है। 'ऋ' और 'र' के उच्चारण की गड़बड़ी के कारण वहुत बड़ी संख्या में स्कूल के विद्यार्थी 'श्रंगार' (शृङ्गार), 'मात्र-भाषा' (मातृभाषा), 'अम्रतसर' (अमृतसर) या 'पृथा' (प्रथा), 'बृजभाषा' (ब्रजभाषा), 'बृह्मा' (ब्रह्मा), 'पृकृति' (प्रकृति) लिखते पाए गए हैं। अंत्य ह्रस्व 'इ' को दीर्घ की तरह बोलने के कारण नीचे लिखे अशुद्ध रूप अक्सर दिखलाई पड़ते हैं—'लिपी', 'अग्नी', 'ऋषी', 'शांती', 'रात्री', 'प्राप्ती', 'अभिरुची', 'की' (कि)। दूसरी ओर दीर्घ ऊ का उच्चारण ह्रस्व के समान करने का कभी-कभी अभ्यास हो जाता है, और इसके फलस्वरूप 'मालुम', 'मुर्च्छा', 'दुसरे', 'मुल्यवान' ऐसे प्रयोग मिलते हैं। 'व' और 'श' के ठीक उच्चारण की ओर अब बहुत कम ध्यान दिया जाता है और इसका परिणाम यह हुआ है कि इन वर्णों वाले शब्द बहुत कम विद्यार्थी शुद्ध लिख पाते हैं। 'काव्य को 'काव्य' और 'शाखा' को 'साखा' लिख देना स्कूली विद्यार्थियों के लिए साधारण बात है। अक्सर तो हिंदी के अध्यापक संस्कृतज्ञ 'पंडित जी' का उच्चारण ही गड़बड़ होता है। फिर बेचारे विद्यार्थियों का क्या दोष ? अशु-द्धियों की निम्नलिखित सूची पर ध्यान देने से प्रत्येक का कारण अशुद्ध उच्चारण सिद्ध होगा—'छेपक' (क्षेपक), 'छत्री' (क्षत्रिय), 'इच्छा' (इच्छा), 'जोतिष '(ज्योतिष), 'रचैता' (रचयिता), 'दैनीय' (दयनीय), 'कलेश' (क्लेश), 'गुड़' (गुण), 'गड़ना' (गणना), 'षणयंत्र' (षड्यंत्र), 'इतहास' (इतिहास), 'प्रियत्न' (प्रयत्न), 'ब्योहार' (व्यवहार), 'इसाई' (ईसाई), 'प्रसंशा' (प्रशंसा), 'अध्यन' (अध्ययन), 'श्रेष्ट' (श्रेष्ठ) इत्यादि। उच्चारण-दोष

के कारण प्रसिद्ध नाम तक अशुद्ध लिखे मिलते हैं, जैसे 'उपाध्या जी', 'द्वेदी जी' 'भारतेंदू हरीशचंद', 'जैसिंह'।

हिंदी की कुछ अशुद्धियों के कारण हमारी लिपि के दोष हैं। 'ऋ' (रि) और 'र' में उच्चारण-साम्य है, किंतु लिपिभेद है तथा 'व' और 'ब' में उच्चारण भेद है किंतु लिपिसाम्य है। इस कारण जो गड़बड़ी होती है उस की ओर ऊपर ध्यान दिलाया जा चुका है! इसी प्रकार 'श' और 'ष' की गड़बड़ी के कारण 'श्लेश' (श्लेष), 'दोश' (दोष) आदि लिख जाना स्वाभाविक है। 'दृष्य' की अशुद्धि का कारण इस शब्द के अन्य रूप 'दृष्टि' इत्यादि हैं। 'द' के संयुक्त रूपों में अक्सर भूल हो जाती है—जैसे 'शताद्वी' 'शद्व' इत्यादि। 'ज्ञ' (ज्+ञ) का उच्चारण हिंदी में प्रायः 'ग्य' हो गया है। इस कारण कभी-कभी वास्तविक 'ग्य' के स्थान पर 'ज्ञ' लिखा मिल जाता है जैसे 'योग्य' के लिए 'योज्ञ'। 'ज्ञान' के लिए 'ग्यान' लिखना बहुत बड़ी अशुद्धि नहीं समझी जानी चाहिए। हिंदी में अधिकांश स्थलों पर शब्द या शब्दांश के अंत्य 'अ' का उच्चारण नहीं होता, किंतु यह लिखा जाता है, इस कारण हलंत्य के स्थान पर भी अकारांत रूप लिख देना एक स्वाभाविक ग़लती है। 'आशचर्य', 'अशलील', 'हरिशचंद्र', 'पशचात्', 'आवशयक', 'सन्धया' जैसे रूप अक्सर लिखे मिल जाते हैं। दूसरी ओर 'पश्चात्' और 'अर्थात' लिखना है। चंद्रबिंदु और अनुस्वार की गड़बड़ी से तो प्रत्येक हिंदी लेखक परिचित है।

लिखने और बोलने की कुछ अशुद्धियों के मूल में विद्वत्ता प्रकट करने का मोह होता है। मध्यप्रांत के विद्यार्थी शीन-क़ाफ़ दुरुस्त होने का प्रमाण देने के लिये अक्सर 'फ़ौज़', 'मक़ान', 'मौज़ूद' व 'शरदी' लिख बोल बैठते हैं। संस्कृतज्ञ होने के लोभ को न रोक सकने के कारण 'माधुर्यता', 'चातुर्यता', 'सौंदर्यताई', जैसे प्रयोग हो जाते हैं। 'नुक़सानप्रद', 'शांतपन' और 'बेसमय' आदि को तो आदर्श हिंदुस्तानी शब्द मानने चाहिए!

परंतु वास्तविक अशुद्धियों की अपेक्षा उतावली के कारण भूल-चूकों की संख्या प्रायः सदा ही अधिक रहती है। लेख को दुबारा ध्यानपूर्वक देख लेने से इनमें से अधिकांश ठीक हो सकती हैं। अक्षर, मात्रा या बिंदी को छोड़ देना, मात्रा या बिंदी ग़लत जगह पर लगा देना, 'ब' लिखने में अक्षर के पेट को न काटना विद्यार्थियों के लेखों में साधारण बात हैं। यह भुला दिया जाता

है कि यद्यपि ये बातें देखने में छोटी हैं किंतु इनकी गड़बड़ी से 'बाग़' (वाटिका) का 'बाग' (बागडोर) और 'बोट' (नाव) का 'वोट' (मत) हो सकता है।

एक अंतिम श्रेणी असाधारण अशुद्धियों की भी बनाई जा सकती है। तद्धित शब्द संस्कृत के सिद्धांत पर बनाए जावें या हिंदी के इस गड़बड़ी के कारण 'पुराणिक', 'समाजिक', 'राजनीतिक' रूपों का प्रयोग हिंदी में सर्वमान्य सा होता जा रहा है। 'जाग्रत' और 'जागृति' के भेद का स्मरण रखना कठिन हो जाता है। 'दुःख' लिखने के बाद 'दुःखित' न लिखने के प्रलोभन को रोकना दुस्तर है। 'हुए' और 'हुये' या 'गए' और 'गये' या 'जायेंगे' और 'जावेंगे' आदि में सर्वसाधारण के अनुसार दोनों ही रूप अभी शुद्ध हैं। नई लिपिसुधार की आयोजना के अनुसार तो 'हुअे' और 'गअे' और 'जाअेंगे' भी भविष्य में अशुद्ध नहीं माने जावेंगे। शब्द को दुबारा लिखने के बजाय उस के आगे २ लिख देने में बहुत सुभीता मालूम होता है, यद्यपि साधारण भाषा में गणित के सिद्धांत का प्रयोग बहुत उचित नहीं है, इसके मानने में किसी को भी आपत्ति न होगी। अध्यापकों के 'प्रगट' को 'प्रकट' और 'उपरोक्त' को 'उपर्युक्त' बनाने के निरंतर उद्योग के रहने पर भी 'प्रगट' और 'उपरोक्त' को शुद्ध रूप मानने में थोड़ा ही विलंब है। 'आप आये हो' तो श्रद्धेय लोगों के मुख तक पहुँच जाने के कारण आर्ष प्रयोग की श्रेणी में रखना पड़ेगा।

यहाँ शब्दों तथा कुछ वाक्यों की अशुद्धियों की ही ओर ध्यान दिलाने का यत्न किया गया है। यदि मुहावरे की अशुद्धियों को लिया जावे तब तो 'बिहारी की कविता कितनी सुंदर है—जी चाहता है कि उनका हाथ चाट लें', 'मुक्तक काव्य में एक ही विषय का सतुआ साना जाता है' जैसे रोचक उदाहरणों और बिल्कुल नए प्रयोगों से लेख भर जावेगा। हिंदी की साधारण अशुद्धियों के उपर्युक्त वर्गीकरण से अशुद्धियों के कारण स्पष्ट रीति से समझ में आ जाते हैं। इन कारणों पर ध्यान दे कर इलाज करने से अशुद्धियों से सहज में मुक्ति मिल सकती है।

६—हिंदी में ध्वनियाँ तथा उनके लिये नये चिह्न

हिंदी भाषा में नई ध्वनियों तथा उनके लिये देवनागरी लिपि में नये चिह्नों की आवश्यकता का प्रश्न तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(क) हिंदी की वे मुख्य ध्वनियाँ जो भाषा में वर्तमान हैं किंतु जिनके लिये पृथक् अथवा सर्वसंमत उपयुक्त चिह्न नहीं हैं।

(ख) हिंदी में विदेशी, विशेषतया अंग्रेज़ी तथा फ़ारसी के, प्रचलित शब्दों को शुद्ध रूप में लिखने के लिये उन भाषाओं की विशेष ध्वनियों के लिये नये चिह्नों की आवश्यकता।

(ग) भाषा-शास्त्र की दृष्टि से ध्वनि-समूह का अध्ययन तथा देवनागरी लिपि के आधार पर भारत के लिये एक अंतर्राष्ट्रीय लिपि-क्रम (International Phonetic System.) निर्माण करने का प्रश्न।

प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य भाग (क) के संबंध में विचार करना है। भाग (ख) के विषय में भी कुछ मुख्य-मुख्य बातों की ओर ध्यान आकर्षित करने का प्रयत्न किया जायगा।

हिंदी के ध्वनि-समूह का आधार संस्कृत ध्वनि-समूह है। सभ्य देशों में प्रचलित कोई भी वर्णमाला शास्त्रीय विवेचन की दृष्टि से इतनी पूर्ण तथा क्रमबद्ध नहीं है। किंतु संस्कृत तथा हिंदी में अनेक शताब्दियों का अंतर होने के कारण, संस्कृत की कुछ ध्वनियों का व्यवहार हिंदी में अब नहीं होता अथवा परिवर्तित रूप में होता है तथा कुछ नई ध्वनियाँ भी हिंदी में विकसित हो गई हैं। इन परिवर्तनों पर अभी तक विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। देवनागरी लिपि पर भी इस दृष्टि से गंभीरता-पूर्वक विचार नहीं किया गया है। फलतः हमारी भाषा की यह विशेषता धीरे धीरे कम हो रही है कि उसमें प्रत्येक ध्वनि के लिये पृथक् चिह्न हैं तथा प्रत्येक चिह्न किसी न किसी व्यवहृत मूल ध्वनि का द्योतक है। हिंदी वर्णमाला तथा देवनागरी

लिपि पर इस दृष्टि से विचार करने तथा इस संबंध में निर्णय करने का समय अब आ गया है।

हिंदी स्वर-समूह में इस विषय पर सबसे अधिक सामग्री मिलती है। हिंदी वर्णमाला में साधारणतया निम्नलिखित ११ स्वर माने जाते हैं—

अ आ इ ई उ ऊ ऋ ए ऐ ओ औ।

ऋ ॡ ॣ अं अः को स्वरों में रखने की शैली धीरे-धीरे कम हो रही है और यह उचित ही है, यद्यपि बारहखड़ी में अं अः का प्रयोग चला जा रहा है।

हिंदी में अंत्य अ का उच्चारण धीरे धीरे लुप्त हो रहा है तथा अन्य स्थलों पर एक दूसरे प्रकार के अल्प अ (Λ) का उच्चारण प्रायः होता है। उदाहरणार्थ समझना शब्द में, स में अ का साधारण रूप मिलता है, म में अल्प अ है तथा झ में अ का उच्चारण बिलकुल भी नहीं होता। लिखने में तीनों अक्षरों में अ समान रूप से लिखा जाता है।

बोलने का अभ्यास होने के कारण हिंदी भाषा बोलने वालों को पढ़ते समय कोई विशेष कठिनाई नहीं पड़ती, किंतु हिंदी से अनभिज्ञ व्यक्ति को वर्तमान स्वरों का बोध करा के यदि हिंदी का लेख पढ़ने को दिया जाय तो वह अवश्य अशुद्ध पढ़ेगा। उदाहरणार्थ हम बोलते हैं—'उस्ने एक्बात्कही' लेकिन लिखते हैं 'उसने एक बात कही'।

अल्प अ पर साधारणतया चाहे अभी ध्यान न भी दिया जाय किंतु अ के लोप के निर्देश पर आगे पीछे ध्यान देना ही पड़ेगा। अक्षरों को मिलाकर लिखने से शब्द-समूह के दुर्बोध हो जाने की संभावना है। पृथक् हल् का चिह्न लगाना भी बहुत अच्छी युक्ति नहीं है विशेषतया जब प्रायः प्रत्येक शब्द में इसके लगाने की आवश्यकता पड़ेगी। अक्षर के अंतिम भाग को ऊपर या नीचे की ओर मोड़ देने से कदाचित् हल् का भाव अधिक सुगमता से प्रकट हो सके। (देखिये चित्र १,) अथवा ह्रस्व अ के लिये ही कोई दूसरा चिह्न बना लिया जाय जैसे ऊपर बतलाये हुए चिह्न का प्रयोग ह्रस्व अ के लिये किया जा सकता है।

आ इ ई उ ऊ के उच्चारण में कोई ऐसे विशेष परिवर्तन या उपभेद नहीं हुए हैं जिनके लिये प्रचलित लिपि में नये चिह्नों की आवश्यकता हो।

ऋ स्वर का उच्चारण अब न संस्कृत में होता है और न हिंदी में। हिंदी में इसके वर्तमान उच्चारण रि के लिखने की स्वतंत्रता हो जानी चाहिए। यदि इस तरह के परिवर्तन न किये गए तो हिंदी में भी उर्दू लिपि की तरह अनावश्यक अक्षरों की धीरे-धीरे भरमार हो जायगी।

ए ऐ ओ औ समूह में कई परिवर्तन हुए हैं और लिपि में इनका बोध कराना आवश्यक है। ए और ओ वैदिक काल में कदाचित् संधिस्वर थे और क्रम से अ+इ तथा अ+उ के द्योतक थे। संस्कृत तथा हिंदी में इनका उच्चारण संयुक्त स्वर के समान नहीं होता, अतः हिंदी में तो इन्हें अब मूल स्वर मानना ही उचित होगा। साथ ही ऐ औ, आ+इ तथा आ+उ के संयोग से कदाचित् बने थे किंतु खड़ी बोली हिंदी में सर्वप्रचलित उच्चारण की दृष्टि से अब ये अ+ए तथा अ+ओ के संयुक्त रूप हो गए हैं, अतः इन्हें ऐसा ही मानना चहिए तथा इनका यह उच्चारण ही बालकों को आरंभ में सिखलाना चाहिए।

ए ऐ ओ औ के दीर्घरूपों के अतिरिक्त व्रजभाषा कविता तथा हिंदी की कुछ ग्रामीण बोलियों में ह्रस्व ए ऐ, ओ औ का व्यवहार ही मिलता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पंक्तियों में अधोरेखांकित ए ऐ ओ औ के उच्चारण ह्रस्व हैं, शेष के दीर्घ—

(क) अवधेस के द्वारे सकारे गई
सुत गोद कै भूपति लै निकसे।
अवलोकि हौं सोच विमोचन को
ठगि सी रहि जे न ठगे धिक से॥
(तुलसी)

(ख) कबहूँ रिसिआइ कहैं हठि कै
पुनि लेत सोई जेहि लागि अरैं
(तुलसी)

(ग) बेफरी देहरिया, बेरिया
दोसरिउ, बोलाइ, चोट्टा।
(अवधी शब्द)

ऐसी अवस्था में अ इ उ के ह्रस्व और दीर्घरूपों के समान ए ऐ ओ औ

के भी दो-दो रूप समझे जाने चाहिएँ। ग्रियर्सन महोदय ने ह्रस्व ए ओ तथा उनकी मात्राओं के लिये कुछ विशेष रूपों का प्रयोग किया है। (देखिए चित्र २) इसी तरह ह्रस्व ए औ के लिये भी विशेष रूपों का प्रयोग किया जा सकता है। यद्यपि इनकी आवश्यकता उतनी अधिक नहीं पड़ती। (वही-चित्र देखिए)।

ऊपर बतलाया जा चुका है कि खड़ी बोली हिंदी में ऐ औ का उच्चारण अ+ए, अ+ओ के संयुक्त रूप के समान साधारणतया होता है। किंतु हिंदी की कुछ ग्रामीण बोलियों तथा कुछ खड़ी बोली के शब्दों में भी इनका उच्चारण अ+इ, अ+उ के समान होता है, जैसे *मैया*, *बलैया*, *गैया*, *जौन*, *लौट*, कैके आदि। संस्कृत में तो इनका उच्चारण सदा ऐसे ही होता है। ऐ औ का यह उच्चारण हिंदी में कम होता है, अतः इसके लिये दोनों स्वरों को अलग अलग लिखने से काम चल सकता है। ऊपर के शब्द नीचे लिखे ढंग से लिखे जा सकते हैं—*मइया*, *बलइया*, *गइया*; *जउन*, *लउटे*, कइके आदि। ऐसा करने से ऐ औ के दोनों उच्चारणों को प्रकट करने के लिये दो पृथक् रूप हो जावेंगे।

ए ओ के अतिरिक्त व्रजभाषा में दो मूल स्वर और हैं जो उच्चारण की दृष्टि से अ के अधिक निकट हैं। जिनकी मातृभाषा व्रज है उनकी बोली में विशेष माधुर्य कुछ तो इन दो नई ध्वनियों के कारण आ जाता है। व्रजभाषा कविता को शुद्ध रूप में पढ़ने के लिये इन दोनों स्वरों को स्पष्ट रूप से चिह्नित करना आवश्यक है। इनके लिये ऍ ऑ ॉ का प्रयोग किया जा सकता है जैसे *ऍसो*, *पॅ*, *ठॅर*, *चलॅगॉ*, *गढ़ायॅ*, *साँवरॉ*। इनके उच्चारण ह्रस्व और दीर्घ दोनों संभव हैं।

इस तरह हिंदी में साधारणतया व्यवहृत स्वरों की पूर्ण सूची के लिये चित्र ३ देखिए।

स्पर्श वर्गों के क्रम में चवर्ग और टवर्ग में उच्चारण की दृष्टि से स्थान परिवर्तन हो गया है। चवर्ग का उच्चारण दंत्य वर्णों के अधिक निटक होता है तथा टवर्ग का अंदर को हटा हुआ। अतः वर्णमाला में इन वर्गों का क्रम वास्तव में इस प्रकार होना चाहिए—कवर्ग, टवर्ग, चवर्ग, तवर्ग, और पवर्ग।

अनुनासिक व्यंजनों का प्रश्न भी बहुत उलझन का है। न और *म* का

उच्चारण तो स्पष्ट होता है तथा इनका प्रयोग स्वतंत्र भी होता है। ङ, ञ तथा *ण* प्रायः शब्दों के बीच में ही आते हैं। *ञ* तथा *ण* का उच्चारण भी प्रायः उतना स्पष्ट नहीं होता। उदाहरणार्थ *पंच, चंचल, पंडित, मुंडन* में अनुनासिक व्यंजन का उच्चारण *न* से मिलता जुलता होता है।

इन पाँच अनुनासिक व्यंजनों के अतिरिक्त अनुस्वार तथा शुद्ध अनुनासिक भी मौजूद हैं। अनुनासिक के लिये यद्यपि चंद्रबिंदु का चिह्न देवनागरी लिपि में है किंतु अधिकांश शब्दों में केवल बिंदु से ही अनुनासिक, अनुस्वार, तथा पंचम अनुनासिक व्यंजन तीनों का बोध कराया जाता है, जैसे *जातीं, में, शब्दों, संशय, संहार, हंस; कंगन, कुंदन, चंचल, डंडा* इत्यादि। अनुस्वार और अनुनासिक के लिये दो पृथक् चिह्नों का बना रहना ही उचित है। कुछ लोग लिखने में बिंदु का प्रयोग अनुनासिक के लिये तथा गोलाकार चिह्न (॰) का प्रयोग अनुस्वार के लिये करते हैं। जैसे *जातीं, में, शब्दों* किंतु *संशय, संहार, हंस* इत्यादि। यह ढंग बुरा नहीं है। पंचम अनुनासिक व्यंजनों के लिये भी अनुस्वार के चिह्न का प्रयोग करना चिंत्य विषय है। इस ढंग में बड़ी त्रुटि यह है कि भिन्न-भिन्न ध्वनियों के लिये एक ही चिह्न हो जाता है।

अंतस्थ वर्णों में र के साथ ड़ और ढ़ को भी अब निश्चित रूप से मिला लेना उचित है क्योंकि इन ध्वनियों का प्रयोग हिंदी में बहुत से शब्दों में होता है।

व के वास्तव में दो रूप प्रचलित हैं—एक दंत्योष्ठ्य और दूसरा ओष्ठ्य। ओष्ठ्य व ऐसे शब्दों में मिलता है जैसे *ज्वर, त्वरित, क्वांरा, व्वालति, ऱ्वावति* आदि। इस दूसरे *व* का निर्देश करने की आवश्यकता है। साधारणतया नीचे बिंदु लगा देने से यह काम निकल सकता है और इस तरह दंत्योष्ठ्य *व* और ओष्ठ्य *व* का भेद स्पष्ट हो सकता है।

ऊष्म वर्णों में *श* तथा ष में भेद अब बिलकुल भी नहीं रह गया है, अतः इनमें से एक ही से दोनों का काम सहज में लिया जा सकता है। *शश्ठी* या *पृश्ठ* देखने में कुछ ही दिनों आँखों को बुरे लगेंगे।

ह के समस्त स्थलों पर घोष वर्ण होने के बारे में संदेह है। यदि ह अघोष हो गया है तो विसर्ग केवल मात्र हलन्त ह् का चिह्न रह जाता है जिसकी हिंदी में कुछ विशेष आवश्यकता नहीं पड़ती। *प्रायः* और *प्रायह्*, *अंतःकरण* और *अंतह्करण* के उच्चारण में विशेष भेद नहीं मालूम पड़ता।

देवनागरी लिपि में तीन संयुक्त व्यंजनों के लिये पृथक् चिह्न रखने की कोई विशेष आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। क्ष त्र ज्ञ वास्तव में क्श त्र ग्य मात्र हैं।

इस तरह स्पर्श, अंतस्थ तथा ऊष्म वर्णों का क्रम इस प्रकार हो सकता है—

क	ख	ग	घ	
ट	ठ	ड	ढ	ण
च	छ	ज	झ	ञ
त	थ	द	ध	न
प	फ	ब	भ	म
य	र	ड़	ढ़	ल
व	व़	श	स	ह

फ़ारसी-अरबी वर्णमाला में पाई जाने वाली कुछ नई ध्वनियों के लिये देवनागरी लिपि में नीचे लिखे चिह्नों का व्यवहार बहुत दिनों से हो रहा है—

क़—क़लम (ق)
ख़—ख़राब (خ)
ग़—ग़रीब (غ)
ज़—ज़ालिम, ज़ामिन, ज़िक्र, ज़रा (ز ذ ض ظ)
फ़—फ़रेब (ف)
अ़—मअ़लूम (ع)

इनमें नीचे लिखी एक ध्वनि के लिये चिह्न और बढ़ा लेना चाहिए—

झ़—पझ़मुर्दा (ژ)

उर्दू तथा फ़ारसी के तत्सम शब्दों के लिखने के लिये इनका व्यवहार अवश्य करना चाहिए। हिंदी की ध्वनियों का अभ्यास कराने के बाद अपने प्रांत में बालकों को इन विदेशी ध्वनियों का भी अभ्यास करा देना नितांत आवश्यक है। आगे चल कर उर्दू लिपि के प्रत्येक अक्षर के लिये देवनागरी लिपि में एक चिह्न बनाने की आवश्यकता पड़ेगी। सर्वसाधारण के लिये इन बारीक भेदों की आवश्यकता नहीं होगी अतः यहाँ इस संबंध में विस्तार-पूर्वक विचार करना अनावश्यक होगा।

जिस तरह फ़ारसी की नई ध्वनियों के लिये चिह्न बना लिये गए हैं उस तरह अभी तक अंग्रेज़ी भाषा में पाई जाने वाली नई ध्वनियों के लिये विशेष चिह्नों का व्यवहार नहीं पाया जाता। अंग्रेज़ी के शब्दों को देवनागरी में ठीक ठीक लिखने के लिये इनकी भी बड़ी आवश्यकता है।

ऊपर दी हुई ध्वनियों के अतिरिक्त नीचे लिखी अन्य मुख्य नवीन ध्वनियाँ अंग्रेज़ी में पाई जाती हैं—

(क) अंग्रेज़ी के *t d* न दंत्य हैं और न मूर्द्धन्य। वे वर्त्स्य से हैं। अतः उनके शुद्ध निर्देश के लिये ट॒ ड॒ अथवा ऐसे ही किसी अन्य चिह्न से युक्त अक्षरों का व्यवहार करना चाहिए, जैसे टा॒इम डि॒ड॒ आदि।

(ख) अंग्रेज़ी में *th* का उच्चारण थ तथा द स्पर्श व्यंजनों के समान नहीं है बल्कि ईषत् स्पृष्ट की तरह है। यह भेद थ॒, द॒ लिखने से प्रकट किया जा सकता है, जैसे थि॒न्, दे॒न् आदि।

(ग) अंग्रेज़ी में *ch j* का उच्चारण हिंदी च ज के समान नहीं है। ये वास्तव में ट्॒ + तथा श् और ड्॒ तथा झ् के संयोग से बनते हैं। यह भेद जतलाने के लिये इनके वास्ते इन संयुक्त व्यंजनों को अथवा किन्हीं भिन्न चिह्नों का प्रयोग होना चाहिए।

(घ) अंग्रेज़ी स्वरों में अ और ओ के बीच में एक और स्वर भी पाया जाता है। इस ध्वनि को हिंदी में अॅ अथवा ऑ से प्रकट करते आये हैं, जैसे ऑन, कॉट आदि।

(ङ) अंग्रेज़ी में संयुक्त स्वर बहुत हैं इनके लिये मूल स्वरों के आधार पर संयुक्त स्वरों के बनाने की आवश्यकता होगी।

इस प्रकार हिंदी और फ़ारसी-अरबी की ध्वनियों के अतिरिक्त अंग्रेज़ी शब्दों में निम्नलिखित अन्य विशेष ध्वनियों की आवश्यकता पड़ती है। अतः इनके लिये भी अपनी लिपि में नीचे लिखे ढंग के या किसी अन्य प्रकार के सर्वसंमत चिह्न होने चाहिए—

ऑ ट॒ ड॒ थ॒ द॒

प्रस्तुत निबंध का उद्देश्य हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि के इस आवश्यक अंग की पूर्ति की ओर हिंदी भाषा के मर्मज्ञों का ध्यान आकर्षित करना मात्र है। निबंध में दिये हुए नवीन चिह्न उदाहरण-स्वरूप हैं। इस

विषय पर अंतिम निर्णय के सूचक नहीं हैं। नई ध्वनियों के विषय पर और भी अधिक सूक्ष्मरूप से विवेचन हो सकता है और होने की आवश्यकता है। इस प्रकार से प्रत्येक भारतीय भाषा के ध्वनि-समूह का शास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन हो चुकने के उपरांत ही भारतीय अंतर्राष्ट्रीय लिपिक्रम का निर्णय हो सकेगा।

क ख छ द स
उस ने एक बात कही

चित्र—१

ए ॆ ओ ो
ऐ ै औ ौ

चित्र—२

	ह्रस्व		दीर्घ	
मूल स्वर	अ		आ	ा
	इ	ि	ई	ी
	उ	ु	ऊ	ू
	ए	ॆ	ए	े
	ओ	ॊ	ओ	ो
संयुक्त स्वर	ऐ	ै	ऐ	ै
	औ	ौ	औ	ौ

चित्र—३

७—हिंदी वर्णों का प्रयोग

हिंदी वर्णमाला के किन वर्णों का प्रयोग अधिक होता है और किनका कम, इस बात की जानकारी कई दृष्टियों से लाभकर हो सकती है। भारतीय आर्यभाषाओं के ध्वनि-विकास पर प्रकाश डालने के अतिरिक्त इस तरह के अध्ययन से कुछ व्यावहारिक लाभ भी हो सकते हैं। उदाहरण के लिये, हिंदी टाइपराइटर आदि के वर्णों के क्रम को बिठाने में इससे सहायता मिल सकती है। हिंदी टाइप कौन कितना चाहिए, इसमें भी इस तरह के अध्ययन से सहायता ली जा सकती है। अब से पहले हिंदी वर्णमाला का इस दृष्टि से कभी विश्लेषण हुआ है, इसका मुझे पता नहीं। इसीलिये मैं अपने इस प्रयोग के परिणामों को संक्षेप में यहाँ लेखबद्ध कर रहा हूँ।

कुछ गद्य-रचनाओं में से कुल मिलाकर एक हज़ार अक्षर अपने विद्यार्थियों को बाँटकर उनका विश्लेषण मैंने अपने सामने कराया। इन विश्लेषणों के जोड़ने से जो परिणाम निकला वही इस लेख में दिया गया है। जिन पुस्तकों से उद्धरण लेकर वर्णों का विश्लेषण किया गया है उनके नाम, अक्षर-संख्या तथा शब्द-संख्या के साथ, नीचे दिए जा रहे हैं—

रचना का नाम	अक्षर-संख्या	शब्द-संख्या
(१) अष्टछाप (ब्रजभाषा गद्य)	१००	४५
(२) तुलसीकृत रामायण अयोध्याकांड (भूमिका)	१००	५१
(३) सूरपंचरत्न (भूमिका)	१५०	७१
(४) परिषद्‌निबंधावली (भाग १)	१००	४०
(५) हमारे शरीर की रचना	१००	४०
(६) साहित्य-समीक्षा	१०८	४५
(७) 'लोकमत' (दैनिक पत्र)	१५०	६६
(८) 'भारत' (साप्ताहिक पत्र)	२००	६०
	१००	४५१

इन भिन्न-भिन्न उद्धरणों के विश्लेषणों के जोड़ने से पृथक्-पृथक् वर्णों के प्रयोग के संबंध में जो परिणाम निकला वह नीचे तालिका में दिया

गया है। ह्विटने ने संस्कृत भाषा में प्रयुक्त ध्वनियों का विश्लेषण किया था जिसका परिणाम उसके संस्कृत-व्याकरण (§७५) में दिया हुआ है। तुलना के लिये यह तालिका भी बराबर में दे दी गई है। यहाँ यह बात स्पष्ट कर देनी आवश्यक है कि मैंने अपने प्रयोग में विशेष ध्यान लिपि-चिह्नों पर दिया है, न कि ध्वनियों पर; क्योंकि मैंने यह प्रयोग व्यावहारिक दृष्टि से किया है, न कि केवल शास्त्रीय दृष्टि से।

स्वर

	पूर्ण स्वर	मात्रा	जोड़	हिंदी में प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
अ	१६	३६२	३७८	३७·८	१९·७८
आ	९	१३२	१४१	१४·१	८·१९
इ	१२	८८	१००	१०·०	४·८५
ई	७	६४	७१	७·१	१·१६
उ	१२	२८	४०	४·०	२·६१
ऊ	...	७	७	०·७	०·७३
ऋ	...	४	४	०·४	०·७४
ए	४	९	१३	१·३	२·८४
ऐ	२	३५	३७	३·७	०·५१
ओ	१	४६	४७	४·७	१·८८
औ	५	५	१०	१·०	०·१८

व्यंजन

	पूर्ण व्यंजन	हलंत व्यंजन	जोड़	हिंदी में प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
क	११०	९	११९	११·९	१·९६
ख	१३	२	१५	१·५	०·१३
ग	२०	२	२२	२·२	०·८२
घ	२	...	२	०·२	०·१५
ङ	...	१	१	०·१	०·२२
	१४५	१४	१५९		

	पूर्ण व्यंजन	हलंत व्यंजन	जोड़	हिंदी में प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
च	८	२	१०	१·०	१·२६
छ	५	...	५	०·५	०·१७
ज	२५	२	२७	२·७	०·६४
झ	२३	...	२३	२·३	०·०१
ञ	...	१	१	०·१	०·३५
	६१	५	६६		
ट	५	१	६	०·६	०·२६
ठ	३	...	३	०·३	०·०६
ड	१	...	१	०·१	०·२१
ढ	...	...	...	...	०·०३
ण	४	...	४	०·४	१·०३
	१३	१	१४		
त	५५	१०	६५	६·५	६·६५
थ	१६	२	२१	२·१	०·५८
द	३६	७	४३	४·३	२·८५
ध	७	...	७	०·७	०·८३
न	५८	१६	७७	७·७	४·८१
	१७५	३८	२१३		
प	४३	...	४३	४·३	२·४६
फ	२	...	२	०·२	०·०३
ब	१५	२	१७	१·७	०·४६
भ	१३	...	१३	१·३	१·२७
म	५६	५	६१	६·१	४·३४
	१२६	७	१३६		
	७				

	पूर्ण व्यंजन	हलंत व्यंजन	जोड़	हिंदी में प्रयोग प्रतिशत	संस्कृत में प्रयोग प्रतिशत
य	५३	१	५४	५.४	४.२५
र	७८	२५	१०३	१०.३	५.०५
ल	२६	...	२६	२.६	०.६६
व	३७	४	४१	४.१	४.६६
	१६७	३०	२२७		
श	१५	५	२०	२.०	१.५७
ष	१३	२	१५	१.५	१.४५
स	७६	६	८२	८.२	३.५६
ह	८४	...	८४	८.४	१.०७
	१८८	१३	२०१		
ड़	१	...	१	०.१	...
ढ़	३	...	३	०.३	...
ः	३	...	३	०.३	१.३१
ं	३२	...	३२	३.२	...
ँ	३	...	३	०.३	०.६३
	४२	०	४२		

ऊपर की तालिका[1] में अ की मात्रा से मतलब पूर्ण व्यंजन से है। इस तरह के व्यंजनों में कुछ उच्चारण की दृष्टि से हलंत भी हो सकते हैं, किंतु उपर्युक्त गणना में इसका ध्यान नहीं रक्खा गया है। अनुस्वारों की संख्या भी ध्वनि की दृष्टि से शुद्ध अनुस्वार की द्योतक नहीं है; क्योंकि हिंदी में अनुस्वार का प्रयोग शुद्ध अनुस्वार के अतिरिक्त पंचमाक्षर तथा अनुनासिक स्वर के लिये भी होता है। अनुस्वार के प्रयोग का यह भेद नहीं दिखलाया जा सका है। इसी कारण अर्द्धचंद्र द्वारा द्योतित अनुनासिक स्वरों की संख्या

[1] ऊपर दिए हुए व्यंजनों में नीचे लिखे विशेष संयुक्त लिपि-चिह्नों के प्रयोग पाए गए। देवनागरी लिपि की दृष्टि से ये संख्याएँ भी रोचक हैं —च ४, त्र २, ज्ञ १, क्त २, त्त १, द्द १।

भी संदिग्ध समझनी चाहिए; क्योंकि अनुनासिक ध्वनियाँ अनुस्वार-चिह्न के अंतर्गत आ गई हैं। अन्य संख्याएँ लिपि-चिह्न के साथ-साथ ध्वनि की दृष्टि से भी ठीक हैं।

ऊपर की तालिकाओं से निम्नलिखित रोचक परिणाम निकलते हैं—(१) हिंदी-शब्दों में वर्णों की संख्या का औसत लगभग दो है (शब्दसंख्या ४५१, अक्षरसंख्या १००)। इसका कारण कदाचित् एकाक्षरी कारक-चिह्नों का अधिक प्रयोग है। ये पृथक् शब्द गिने गए हैं। (२) क्योंकि प्रत्येक वर्ण में साधारणतया एक स्वर तथा एक या अधिक व्यंजन होता है, इस कारण १००० वर्णों में लगभग दुगुनी ध्वनियाँ (१९०६) मिलती हैं। (३) हिंदी में सबसे अधिक प्रयुक्त वर्ण क है, सबसे अधिक प्रयुक्त ध्वनि अ है तथा सबसे कम प्रयुक्त वर्ण अथवा ध्वनि ढ है। (४) स्वरों में पूर्ण स्वरचिह्नों की अपेक्षा मात्राचिह्नों का प्रयोग कहीं अधिक होता है। इस दृष्टि से ऊपर दी हुई स्वरों की तालिका अत्यंत रोचक है। किंतु व्यंजनों में हलंत व्यंजनों की अपेक्षा पूर्ण व्यंजनों का प्रयोग कहीं अधिक होता है। (५) न्यूनाधिक प्रयोग की दृष्टि से पूर्ण स्वरों का क्रम निम्नलिखित होगा—अ, इ, उ, आ, ई, औ, ए, ऐ, ओ, ऊ, ऋ; मात्रा-चिह्नों का क्रम निम्नलिखित होगा—अ (अर्थात् मात्रा का अभाव), आ, इ, ई, ओ, ऐ, उ, ए, ऊ, औ, ऋ; समस्त हिंदी वर्ण-समूह में स्वरध्वनियों के प्रयोग का क्रम निम्नलिखित होगा—अ, आ, इ, ई, ओ, उ, ए, ऐ, औ, ऊ, ऋ। किसी तरह भी गणना की जाय, स्वरों में अ का स्थान सर्वप्रथम और ऋ का अंतिम रहता है। (६) प्रयोग की दृष्टि से पंच-वर्गों का क्रम निम्नलिखित है—तवर्ग, कवर्ग, पवर्ग, चवर्ग, टवर्ग। अंतस्थ तथा ऊष्म वर्गों को संमिलित कर लेने से तवर्ग से भी पहले क्रम से अंतस्थ तथा ऊष्मों का स्थान पड़ता है। (७) न्यूनाधिक प्रयोग की दृष्टि से व्यंजनों का क्रम निम्नलिखित होगा—

१०० से अधिक—क र

५१ से १०० तक—ह स न
त म य

११ से ५० तक—प द व
ल ज भ ग थ
श ब ख ष भ

१ से १० तक—च ध ट छ ण ढ़
ठ घ फ ड ञ ङ ड़।

८—अवध के ज़िलों के नाम

अपने देश में स्थानों के नामों का अभी तक अध्ययन नहीं किया गया है। अनेक नामों के संबंध में जनश्रुतियाँ और किंवदंतियाँ मिलती हैं किंतु इनका भी कोई संग्रह अभी तक मौजूद नहीं है। अवध के ज़िलों के नामों का यह अध्ययन केवल दिग्दर्शन कराने के निमित्त है। इसकी अधिकांश सामग्री का मूलाधार गज़ेटियर की जिल्दें हैं। नामों के पीछे छिपे हुए इतिहास की खोज न करके केवल नामों की व्युत्पत्ति के संबंध में प्रचलित मतों का निर्देश इस संबंध में किया गया है।

अवध का उपप्रांत १२ ज़िलों में विभक्त है। यह ज़िलों का विभाग १८५६ ईसवी में अवध पर अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हो जाने के बाद हुआ था। यद्यपि इसका मूलाधार मुस्लिम कालीन विभाग था, जो इससे बहुत मिलता-जुलता था। लेकिन इससे यह तात्पर्य नहीं है कि इन ज़िलों के नगरों का निर्माण भी अंग्रेज़ी काल में हुआ। इन १२ नगरों में से प्रत्येक १८५६ के पहले मौजूद था। यह अवश्य है कि इनमें से अनेक नगर, ज़िले के मुख्य नगर-स्वरूप चुने जाने के बाद विशेष समृद्धि प्राप्त कर सके।

लखनऊ और फ़ैज़ाबाद मुस्लिम काल में ही अवध के प्रधान नगर थे। अवध के इन १२ ज़िलों के नामों की व्युत्पत्ति के संबंध के नीचे अकारादि क्रम से उपलब्ध सामग्री संक्षेप में दी गई है। कुछ की व्युत्पत्ति तो स्पष्ट है किंतु अधिकांश के संबंध में संदेह बाक़ी रह जाता है। इस क्षेत्र के भावी कार्यकर्ताओं को यह अपूर्णता प्रोत्साहक होनी चाहिए।

१—बहरायच—ऐतिहासिक दृष्टि से यह नाम 'भर' जाति के नाम पर पड़ा था। 'आयच' प्रत्यय की व्युत्पत्ति अस्पष्ट है।

जनश्रुति के अनुसार इस नगर का मूल नाम 'ब्रह्मायच' था किंतु इतिहास तथा ध्वनिविज्ञान से इसकी पुष्टि नहीं होती।

२—बाराबंकी—इस नाम में 'बारा' सर्वसम्मति से बारह का विकृत रूप माना जाता है। 'बंकी' अंश 'बाँके' अथवा 'बनकी' (छोटा बन) अर्थ वाला समझा जाता है। अर्थात् १२ बाँके या १२ छोटे-छोटे बन। इन १२ बाँकों

के संबंध में एक किंवदंती प्रसिद्ध है, जो गज़ेटियर में विस्तार से वर्णित है। इस नाम का 'भरों के बन' अर्थ से संबंध जोड़ना बहुत संतोषजनक नहीं होगा।

३—फ़ैज़ाबाद स्पष्ट ही फ़ारसी तत्सम है। इस नगर के प्राचीन भाग का अयोध्या नाम अभी तक मिट नहीं सका है।

४—गोंडा नाम की व्युत्पत्ति 'गोंठ' या पशुओं के व्रज से मानी जाती है, क्योंकि इस स्थान पर एक हिंदू राजा की 'गोंठ' प्रारंभ में थी।

५—हरदोई नाम प्रसिद्ध साधु 'हरदेउ' के नाम पर पड़ा, ऐसी एक किंवदंती है। 'हरदेउ' उपनाम एक जागीरदार का भी बतलाया जाता है, जिनका मुख्य नाम हरनकस था।

६—खेरी नाम की कोई व्युत्पत्ति पुस्तकों में नहीं मिलती है। छोटे खेरे से इस नगर का नाम पड़ सकता है। अवधी के विशेषज्ञ और खेरी के रहने वाले डाक्टर बाबूराम सक्सेना के अनुसार इसका संबंध 'क्षीर' शब्द से होना चाहिए।

७—लखनऊ—यह आश्चर्य की बात है कि अवध की राजधानी के नाम की व्युत्पत्ति अनिश्चित है। नाम का पूर्वार्द्ध लखन, लक्ष्मण का विकृत रूप है, किंतु एक दूसरी जनश्रुति के अनुसार एक प्रसिद्ध भवननिर्माता लिखना के नाम पर नगर का नाम पड़ा है। 'वती' का 'अऊ' होना ध्वनिविज्ञान के अनुसार संभव नहीं है।

८—प्रतापगढ़ राजा प्रतापसिंह के नाम से प्रसिद्ध हुआ है। इस नाम की व्युत्पत्ति असंदिग्ध है।

९—रायबरेली—जनश्रुति के अनुसार यह नगर भरों ने बसाया था और इसका नाम प्रारंभ में बरौली या भरौली था जो बिगड़ कर बाद को बरैली या बरेली हो गया। राय अंश एक निकटवर्ती गाँव राहि का विकृत रूप बतलाया जाता है जो बरेली नाम की अन्य बस्तियों से पृथक् करने के लिये इस नाम के साथ जोड़ दिया गया है। क्योंकि यह नगर बहुत दिनों कायस्थ ज़मीदारों के हाथ में रहा था इसलिये यह रायबरेली कहलाने लगा, ऐसा एक दूसरा मत भी इस संबंध में है।

१०—सीतापुर नाम की व्युत्पत्ति स्पष्ट ही है।

११—सुल्तानपुर नाम सुल्तान अलाउद्दीन ग़ोरी के समय में पड़ा था। इस बस्ती का प्राचीन नाम कुशपुर बतलाया जाता है।

१२—उन्नाव—राजा उनवंत पर पड़ा ऐसा प्रसिद्ध है, किंतु ध्वनिविज्ञान की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति संदिग्ध मालूम होती है।

ऊपर के संक्षिप्त विवेचन से कुछ रोचक निष्कर्ष निकलते हैं—

(क) किसी भी नाम पर अंग्रेज़ी प्रभाव नहीं मिलता है। स्थानों के नामों पर अंग्रेजी प्रभाव अभी कम पड़ा है।

(ख) फ़ैज़ाबाद स्पष्ट ही मुसलमानी नाम है और सुल्तानपुर आधा नर आधा मृगराज है। इस तरह की प्रवृत्ति नामों के संबंध में बराबर पाई जाती है।

(ग) सीतापुर विशुद्ध संस्कृत नाम है। प्रतापगढ़ हरदोई और लखनऊ में भी संस्कृत मूल रूप स्पष्ट दिखलाई पड़ते हैं।

(घ) अन्य नामों—बहराइच, बरेली, बाराबंकी, गोंडा, रायबरेली और उन्नाव की व्युत्पत्ति बहुत स्पष्ट नहीं है। बहराइच, बरेली और बाराबंकी भरों के नाम पर पड़े थे ऐसा माना जाता है, गोंडा और खेरी नाम इन स्थानों की प्रकृति पर पड़े। उन्नाव नाम के संबंध में संदेह ऊपर प्रकट किया जा चुका है।

वास्तव में अवध के जिलों के इन १२ नामों में से अधिकांश की व्युत्पत्ति अभी संदिग्ध है और इनकी विशेष खोज होने की आवश्यकता है। इन नामों के पीछे कितना इतिहास छिपा है यह तो पृथक् ही विषय है।

ख—हिंदी-प्रचार

१—हिंदी, उर्दू, हिंदुस्तानी

अपने देश की हिंदी-उर्दू समस्या उन महत्त्वपूर्ण समस्याओं में से एक है, जिसके निर्णय पर देश की भावी उन्नति बहुत कुछ निर्भर है। आधुनिक साहित्यिक हिंदी के पक्ष में कई बातें कही जा सकती हैं :—

१. शब्द-भंडार के लिये संस्कृत की ओर झुकने से हिंदी भारत की अन्य समस्त आधुनिक आर्य-भाषाओं, जैसे बंगाली, मराठी, गुजराती आदि के निकट रहती है, क्योंकि ये समस्त भाषाएँ भी संस्कृत से ही अपना शब्द-कोष भर रही हैं।

२. नए विचारों को प्रकट करने के लिये बने-बनाए प्राचीन संस्कृत शब्दों को ले लेने में सुभीता रहता है। तद्भव, देशी अथवा विदेशी शब्दों को ढूँढना कठिन होता है, फिर अक्सर ठीक शब्द मिलते भी नहीं। आधुनिक भारतीय आर्य-भाषाओं के शब्द-समूह को बढ़ाने के लिये संस्कृत का शब्द-समूह एक अक्षय्य तथा स्वाभाविक भंडार है।

३. संस्कृत शब्दों के प्रयोग से शैली में प्रौढ़ता तथा गरिमा आ जाती है तथा भाषा में साहित्यिक वातावरण उत्पन्न हो जाता है। हिंदुस्तानी शैली में यह बात नहीं आती। साधारण संसारी आदमी इसकी महत्ता को भले ही अनुभव न करे किंतु साहित्यिक पुरुष इस संबंध में उपेक्षा नहीं कर पाता।

४. उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारंभ से हिंदी शैली के संबंध में संस्कृत-मिश्रित हिंदी और हिंदुस्तानी लिखने के प्रयोग होते आ रहे हैं। इस प्रतियोगिता में निश्चित रूप से संस्कृत-गर्भित शैली की ही जीत रही। पिछले पचास-साठ वर्षों में हिंदी शैली स्थिर सी हो गई है। अतः फिर नए सिरे से व्यर्थ को वही पुराने प्रयोग क्यों आरंभ किए जावें ?

५. अंत में भारतीय मूल साहित्यिक भाषा अर्थात् संस्कृत के निकट रहने से हमारा संबंध प्राचीन भारतीय संस्कृत से अधिक दृढ़ तथा अटूट बना रहता है।

ऊपर दिए हुए तर्कों में बहुत कुछ तथ्य है किंतु इसके विरुद्ध भी कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं।

यह बिलकुल सत्य है कि शब्द-भंडार के लिए संस्कृत की ओर झुकने से हिंदी भारत की अन्य आधुनिक आर्य-भाषाओं के निकट रहती है, किंतु अंतर्प्रांतीय संबंध के अतिरिक्त हिंदी का एक प्रांतीय पहलू भी है, जो कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। राष्ट्रभाषा के पहलू के सामने हिंदी के प्रांतीय भाषा के पहलू को प्रायः भुला दिया जाता है। खड़ी बोली हिंदी का घर संयुक्त-प्रांत है तथा संयुक्त-प्रांत, बिहार, राजस्थान, मध्यभारत और हिंदुस्तानी मध्यप्रांत के हिंदुओं की यह साहित्यिक भाषा है। इन प्रांतों के मुसलमानों और पंजाब तथा दिल्ली के हिंदू और मुसलमान दोनों की साहित्यिक भाषा खड़ी बोली हिंदी की बहिन उर्दू है, जो संस्कृत-गर्भित न होकर फ़ारसी-अरबी-मिश्रित है। अब प्रश्न यह हो जाता है कि हिंदी को संस्कृत-गर्भित करके हिंदी-भाषी प्रदेश की जनता के एक बड़े समूह से तथा पड़ोस के पंजाब और दिल्ली प्रांतों की प्रायः समस्त पढ़ी-लिखी जनता की भाषा से दूर करके सुदूरवर्ती बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र की भाषाओं के अधिक निकट रखना अधिक हितकर होगा या हिंदुस्तानी शैली की ओर झुकाव करके बंगाली, गुजराती आदि भाषाओं से दूर होकर अपने घर के एक वर्ग की उर्दू भाषा के निकट रखना अधिक उचित होगा। यह न भुलाना चाहिए कि भारतीय मुसलमानी संस्कृति का केंद्र हिंदी-भाषी प्रदेश ही है। दिल्ली, आगरा, लखनऊ, संयुक्त प्रांत में ही हैं, यहाँ ही मुसलमानी विशाल साम्राज्य बने बिगड़े हैं और उनके खँडहर अब तक विलुप्त नहीं हो पाए हैं। अतः हिंदी को जितना अधिक उर्दू से मिलने-जुलने का अवसर मिलता है उतना गुजराती, बंगाली आदि को नहीं मिलता। इन अन्य भारतीय आर्य-भाषाओं के आगे इस तरह की समस्या आती ही नहीं, अतः हिंदी की इस समस्या को सुलझाने में इन भाषाओं की परिस्थिति विशेष सहायक नहीं होती।

फिर हिंदी-उर्दू समस्या केवल प्रांतीय समस्या ही नहीं है। यह एक भारतीय पहलू भी रखती है। यदि राष्ट्रभाषा हिंदी संस्कृत-गर्भित हुई तो यह सच है कि गुजराती, बंगाली, मराठी तथा मदरासी भाइयों को ऐसी हिंदी के समझने में सुभीता होगा, किंतु कई करोड़ मुसलमान भाइयों के प्रतिनिधियों के लिये तो ऐसी हिंदी संस्कृत के बराबर हो जायगी। उनकी उर्दू के निकट

तो हिंदुस्तानी हिंदी ही रह सकेगी। फिर यह वर्ग ऐसा नहीं है जिसे संस्कृत शब्द-समूह को खिलला सकना आसान हो। उर्दू धीरे-धीरे समस्त भारतीय मुसलमानों की साहित्यिक भाषा होती जा रही है। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र आदि सुदूरवर्ती प्रांतों की मुसलमान जनता, धर्म में इस्लाम धर्म को मानते हुए भी, भाषा की दृष्टि से अपने-अपने प्रांतों की भाषा पढ़ती लिखती रही है किंतु अब प्रायः हर एक प्रांत के मुसलमानों की प्रवृत्ति प्रांतीय भाषा को छोड़ कर अथवा साथ-साथ उर्दू को अपनाने की ओर हो रही है। इस प्रवृत्ति से हिंदी, बंगाली, गुजराती आदि और उर्दू के बीच में भेद की दीवार और भी अधिक ऊँची तथा दृढ़ होती जा रही है।

यह हिंदी-उर्दू की द्विभाषा-समस्या हिंदी-भाषी प्रदेशों, विशेषतया संयुक्त-प्रांत, के लिये बड़ी विकट समस्या है। निकट भविष्य में जब भारत की प्रांतीय भाषाओं में प्राइमरी स्कूलों से लेकर यूनीवर्सिटी तक की पढ़ाई होगी उस समय यूनीवर्सिटी के अध्यापक किस भाषा में अपने मुसलमान और हिंदू विद्यार्थियों को इतिहास, तर्कशास्त्र, वनस्पति-शास्त्र आदि विषयों पर व्याख्यान दिया करेंगे? हमारे प्रांत में हिंदू और मुसलमानों की समस्त शिक्षा-संबंधी संस्थाएँ बिल्कुल अलग हों, यह भी तो बड़ी विचित्र बात होगी। प्रांतीय सरकार अपना कारबार भले ही हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं में करती रहे किंतु प्रांतीय काउंसिल में किस भाषा में प्रस्ताव रक्खे जाया करेंगे और किस भाषा में उन पर वाद-विवाद होगा? किस लिपि और भाषा में समस्त सरकारी और ग़ैर-सरकारी दफ़्तरों में लिखा-पढ़ी हुआ करेगी? वास्तव में परिस्थिति बड़ी उलझन की होगी।

मुसलमानी दौर-दौरे के कारण कुछ दिन पहले तक एकमात्र उर्दू राज-भाषा थी। राजकाज से संबंध रखने वाले हिंदू भी उर्दू सीखते थे। उस समय संस्कृत पंडितों की और नागरी स्त्रियों तथा तिजारत पेशावालों की भाषा समझी जाती थी। राजनीतिक परिवर्तनों के साथ-साथ उर्दू का यह विशेष पद नष्ट हो गया तथा पढ़े-लिखे हिंदुओं की नई पीढ़ियों में खड़ीबोली हिंदी का पठन-पाठन बढ़ने लगा। इस समय पश्चिमी संयुक्त-प्रांत के कुछ हिस्सों तथा लखनऊ के इर्द-गिर्द कुछ ख़ानदानों को छोड़ कर संयुक्त-प्रांत की शेष समस्त पढ़ी-लिखी हिंदू जनता की तथा पड़ोस के प्रांतों की हिंदू जनता की भी साहित्यिक भाषा हिंदी हो गई है। यद्यपि इस भूमि-भाग में समस्त पढ़े-

लिखे मुसलमान भाइयों तथा बहुत तेज़ी से घटते हुए पुराने प्रभावों से प्रभावित कुछ हिंदू घरानों की साहित्यिक भाषा अब भी उर्दू बनी हुई है। ऐसी परिस्थिति में भाषा-संबंधी कठिनाई का होना स्वाभाविक है।

अपने प्रांत के मुसलमान भाइयों की साहित्यिक भाषा—उर्दू—के निकट रहने के अतिरिक्त हिंदी को हिंदुस्तानी की ओर झुकाए रखने के पक्ष में एक तर्क यह भी दिया जा सकता है कि ऐसा करने से हिंदी सर्वसाधारण की पहुँच के अंदर रहेगी। संयुक्त-प्रांत के गाँवों, क़स्बों तथा शहरों की साधारण जनता संस्कृत-गर्भित भाषा को उतनी आसानी से नहीं समझ सकती जितनी आसानी से वह प्रचलित तद्भव तथा विदेशी शब्दों से युक्त सरल हिंदी को समझ सकती है। साधारण जनता फ़ारसी-मिश्रित उर्दू को भी नहीं समझ सकती। हिंदी और उर्दू में से जो भाषा भी जनता तक अपनी पहुँच चाहती है उसे अपने को सरल बनाए रखना चाहिए। इस तर्क में बहुत कुछ तथ्य है किंतु यह बात केवल समाचार-पत्रों, उपन्यासों तथा साधारण नाटकों आदि की भाषा के संबंध में लागू हो सकती है। जब कभी गंभीर विषयों पर क़लम उठानी पड़ेगी तभी फ़ारसी या संस्कृत का सहारा लेना अनिवार्य हो जायगा। जनता के हित की दृष्टि से इसमें विशेष अड़चन भी नहीं पड़ती क्योंकि यह ग्रंथ-समूह सर्वसाधारण के लिये नहीं होता है और न साधारण जनता तक इसकी पहुँच कराने की आवश्यकता ही पड़ती है। हिंदी को जनता की पहुँच के अंदर रखने में हिंदी का ही हित है। किंतु इससे हिंदी-उर्दू समस्या हल नहीं होती।

सच यह है हिंदी और उर्दू साहित्यिक भाषाओं को भविष्य में मिला कर अब एक भाषा नहीं किया जा सकता। जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है बोल-चाल या साधारण साहित्य की हिंदी-उर्दू को जनता की पहुँच की दृष्टि से सरल बनाए रखने में इन्हीं भाषाओं का हित है। ऐसी सरल हिंदी और उर्दू का एक दूसरे के अधिक निकट रहना स्वाभाविक है किंतु भविष्य में हिंदी और उर्दू में दिन-दिन ऊँची से ऊँची श्रेणी का कार्य होना है, अतः ऐसे ऊँचे पाये की साहित्यिक हिंदी और उर्दू का एक दूसरे से, आज की अपेक्षा भी अधिक दूर हो जाना बिलकुल स्वाभाविक है।

मुसलमान भाइयों से यह आशा करना कि वे प्रांत की अधिकांश पढ़ी-लिखी जनता की भाषा—हिंदी—को सीख सकेंगे दुराशा मात्र है। हिंदी-

उर्दू की मिडिल परीक्षाओं से लेकर एम्० ए० की परीक्षाओं तक हिंदी-मिडिल और हिंदी एम्० ए० में मुसलमान विद्यार्थियों की संख्या से भविष्य की प्रवृत्ति का पता स्पष्ट चल सकता है। रहीम और जायसी आदि के नाम लेकर मौखिक सहानुभूति दिखलाना दूसरी बात है। यह सच है कि उर्दू पढ़ने वाले हिंदू विद्यार्थियों की संख्या अभी भी पर्याप्त है किंतु यह दिन-दिन घट रही है। वर्तमान काल की परिवर्तित परिस्थिति में हिंदुओं से भी यह आशा नहीं की जा सकती कि ये पहले की तरह बहुत दिनों तक उर्दू को अपनाए रहेंगे। नीचे की कक्षाओं में नागरी और उर्दू लिपि तथा एक दो दूसरी भाषा की किताबें प्रत्येक हिंदी या उर्दू जानने वाले को पढ़ा देने से भी साहित्यिक हिंदी और उर्दू के भेद की समस्या हल नहीं होती।

वास्तव में देवनागरी लिपि तथा हिंदी-भाषा भारतीय लिपि तथा भाषा हैं, अतः संयुक्त-प्रांत आदि भूभागों में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को, चाहे वह हिंदू हो या मुसलमान, अँग्रेज़ हो या यहूदी, पारसी हो या मदरासी देवनागरी लिपि और हिंदी भाषा को राष्ट्रीय लिपि और भाषा समझकर सीखना चाहिए। मुसलमान भाई यदि चाहें तो अपनी संस्कृति और धर्म को सुरक्षित रखने के लिये फ़ारसी लिपि और भाषा को भी अपने बच्चों को सिखा सकते हैं। इसकी उन्हें पूर्ण स्वतंत्रता होनी चाहिए। जब तक वे इसके लिए राज़ी न हों तब तक यही एक उपाय है कि हिंदी-भाषी प्रदेशों के ८५ फ़ी सदी हिंदू, हिंदी और देवनागरी लिपि को अपनावें और १५ फ़ी सदी मुसलमान भाई उर्दू को अपनाए रहें। भविष्य आप ही इस संबंध में फैसला कर देगा। जो हो प्रत्येक पढ़े-लिखे हिंदू बालक को उर्दू भाषा और फ़ारसी लिपि का अनिवार्य रूप से सिखलाया जाना या उर्दू के निकट जाने के उद्देश्य से साहित्यिक हिंदी की प्रौढ़ शैली को नष्ट कर उसे हिंदुस्तानी बनाना अस्वाभाविक तथा अनावश्यक है। विशेषतया जब इससे साहित्यिक हिंदी और उर्दू के भेद को दूर करने में कोई भी सहायता नहीं मिलती हो।

२--हिंदी की भौगोलिक सीमाएँ

प्रत्येक जीवित भाषा की भौगोलिक सीमाएँ हुआ करती हैं। बंगाली बंगाल-प्रांत तक सीमित है, गुजराती गुजरात की भाषा है, फ्रांसीसी की निश्चित भौगोलिक सीमा फ्रांस देश है और जापानी की जापान के टापू। राजनीति, व्यापार या धर्म-प्रचार आदि की आवश्यकताओं के कारण एक निश्चित भाषा-सीमा के निवासियों को अन्य भाषाओं के क्षेत्रों में जाना पड़ता है और कभी-कभी वहाँ बस तक जाना पड़ता है, किंतु इससे मूल भाषा की सीमा पर विशेष प्रभाव नहीं पड़ता। बंगाली लोग अपनी जीविका अथवा तीर्थ-सेवन की दृष्टि से हज़ारों की संख्या में काशी, लखनऊ आदि उत्तर-भारत के नगरों में बसे हुए हैं किंतु इससे काशी कलकत्ता नहीं हो जायगी, ठीक जिस तरह कलकत्ते में हिंदी भाषी हजारों की संख्या में हैं तो भी कलकत्ता बंगाल का ही नगर है और रहेगा। राजनीतिक संबंध के कारण लाखों अंग्रेज इस समय भारत में हैं और साथ ही लाखों भारतीयों ने भी अंग्रेजी को राज-भाषा के रूप में ग्रहण कर रखा है, किंतु इससे भारत अंग्रेजी भाषा की भौगोलिक सीमा के अंतर्गत नहीं गिना जा सकता। यदि भारतीयों ने अपनी जीवित भाषाओं को छोड़कर अंग्रेजी को ग्रहण कर लिया होता या यहाँ के निवासी अल्पसंख्यक होते और अंग्रेज बहुत बड़ी संख्या में यहाँ बस गए होते तो बात दूसरी थी। ऐसे ही कारणों से कैनाडा और अमेरिका के संयुक्त राज्य अवश्य अंग्रेजी भाषा की परिधि के अंतर्गत आ गये हैं। इस तरह हम पाते हैं कि प्रत्येक भारतीय या विदेशी भाषा की अपनी निश्चित भौगोलिक सीमा है, किंतु केवल एक भाषा ऐसी है जिसके बोलनेवाले अपनी सीमाओं को निश्चित रूप से नहीं जानते। इस भाषा का नाम हिंदी है।

यहाँ पर 'भौगोलिक सीमा' इस परिभाषा को स्पष्ट कर देना आवश्यक है। किसी भाषा की भौगोलिक सीमा से तात्पर्य उस भूमि-भाग से है जिसमें वह भाषा स्कूलों में शिक्षा का माध्यम हो, पत्र-पत्रिकाएँ उस भाषा में निकलती हों तथा वे सर्वसाधारण द्वारा पढ़ी जाती हों, पुस्तकें उस भाषा में लिखी जाती हों और सर्वसाधारण उन्हें पढ़ सकता हो, शहरों, गाँवों और क़सबों में उस

भाषा में भाषणों के द्वारा जनता तक पहुँच हो सकती हो। इसी कसौटी पर कसने से आधुनिक खड़ी बोली हिंदी की निश्चित भौगोलिक सीमाएँ स्पष्ट दिखलाई पड़ती हैं। हिंदी इस समय राजस्थान, मध्यभारत, महाकोशल, दिल्ली, संयुक्तप्रांत तथा बिहार की साहित्यिक-भाषा है। इस क्षेत्र के अंदर कहीं-कहीं उर्दू का झगड़ा अभी अवश्य मौजूद है लेकिन उर्दू भाषा वास्तव में हिंदी का ही एक रूपांतर मात्र है और हिंदी-उर्दू की समस्या एक प्रकार से घरेलू समस्या है। भारत का शेष भाग इस दृष्टि से हिंदी की भौगोलिक सीमा से बाहर है। बिहार के राजेंद्र बाबू तो हिंदी में लिखते-पढ़ते हैं किंतु बंगाल के रवींद्र बाबू बंगाली में अपना सब काम करते थे। राजस्थान के प्रसिद्ध इतिहासज्ञ ओझाजी ने अपने समस्त ग्रंथ हिंदी में लिखे हैं और ये ग्रंथ हिंदी की अमर संपत्ति हैं, किंतु महात्मा गांधी ने अपना आत्म-चरित्र गुजराती में लिखा है और लोकमान्य तिलक ने गीता-रहस्य मराठी में लिखा था। मैथिलीशरण गुप्त का काव्य, प्रेमचंद के उपन्यास या जयशंकर प्रसाद के नाटक अपने मूल रूप में क्या गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र, उड़ीसा, बंगाल या नेपाल के पढ़े-लिखे मूल निवासियों तक पहुँच सकते हैं? तनिक भी ध्यान देने से यह स्पष्ट हो सकेगा कि गुजराती, बंगाली आदि की तरह हिंदी की भी निश्चित भौगोलिक सीमाएँ हैं और इन सीमाओं के अंदर ही हिंदी सर्व-साधारण की साहित्यिक भाषा के सिंहासन पर आरूढ़ है। इन सीमाओं के बाहर अन्य भाषाओं का राज्य है। हिंदी का क्षेत्र अन्य भाषाओं के क्षेत्र की अपेक्षा बहुत बड़ा अवश्य है। हिंदी सम्राज्ञी है, अन्य भाषाएँ राज्ञी हैं।

किंतु कुछ लोगों का कहना है कि हिंदी शीघ्र ही समस्त भारत की राष्ट्र-भाषा होने जा रही है। दक्षिण में ख़ूब प्रचार हो रहा है। गुजरात में हिंदी के प्रति विशेष प्रेम है। महाराष्ट्र उदासीन तथा बंगाल कुछ खिन्न अवश्य दिखलायी पड़ता है, किंतु आगे पीछे ये भी हिंदी को अपना लेंगे, ऐसी पूर्ण आशा है। वास्तव में हिंदी के राष्ट्रभाषा होने के संबंध में हिंदी-भाषियों में बड़ा भारी भ्रम फैला हुआ है। यदि भारत के अन्य भाषा-भाषी प्रांतों ने हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में अपना भी लिया तो इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि हिंदी इन प्रांतीय भाषाओं का स्थान ग्रहण कर लेगी। इसका तात्पर्य केवल इतना ही है कि प्रांतीय भाषा के साथ-साथ पढ़े-लिखे लोग थोड़ी हिंदी भी जान लेंगे, जिस तरह आजकल अंग्रेज़ी सीखते हैं। महाराष्ट्र में

मराठी तब भी शिक्षा की माध्यम रहेगी, महाराष्ट्र जनता तक पहुँचने के लिये उस समय भी मराठी समाचार-पत्र और मराठी में भाषण देना एकमात्र साधन रहेगा, मराठी-साहित्य तब भी मराठी कवि, उपन्यास-लेखक तथा नाटककारों द्वारा समृद्ध किया जावेगा। हाँ, पढ़े-लिखे मराठे थोड़ी हिंदी भी जानने वाले मिलेंगे जिसके द्वारा वे अखिल भारतवर्षीय समस्याओं पर अन्य प्रांतवालों के साथ विचार-विनिमय कर सकेंगे। हिंदी का भारत की राष्ट्रभाषा होने का अर्थ है हिंदी का अंतर्प्रांतीय भाषा के रूप में विशेष स्थान प्राप्त करना मात्र, जिस तरह यह स्थान इस समय अंग्रेज़ी को मिला हुआ है, मुसलमान काल में फ़ारसी को मिला हुआ था और गुप्तकाल में संस्कृत को प्राप्त था। किंतु प्रादेशिक शूरसेनी, महाराष्ट्री, मागधी आदि प्राकृतें सदा थीं, रहेंगी, और रहनी चाहिए।

इस सबसे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिस तरह भारत की प्रत्येक भाषा का अपना प्रांतीय क्षेत्र है, उसी प्रकार हिंदी का भी प्रादेशिक क्षेत्र है। इसकी सीमाएँ पश्चिम में जैसलमीर से लेकर पूरब में भागलपुर तक और उत्तर में हरिद्वार से लेकर दक्षिण में रायपुर तक हैं। किंतु भारत की अन्य भाषाओं के विपरीत हिंदी कदाचित् भारत की अंतर्प्रांतीय भाषा या राष्ट्रभाषा होने भी जा रही है। इस विशेष पद के प्राप्त कर लेने पर हिंदी भिन्न-भिन्न प्रांतों के पढ़े-लिखे लोगों के लिये लिखने-बोलने और बातचीत करने का एक साधन-स्वरूप हो जावेगी। हिंदी-भाषियों को यह आशा करना कि राष्ट्रभाषा हो जाने पर हिंदी भाषा और साहित्य की उन्नति तथा विकास में अहिंदी-भाषी-भारतीयों से विशेष सहायता मिल सकेगी, दुराशा मात्र है। हिंदी भाषा और साहित्य को बनाने का भार सदा हिंदी-भाषियों पर ही रहेगा और रहना चाहिए। वास्तव में इस पद को प्राप्त कर लेने पर हिंदी की कठिनाइयाँ बढ़ ही जावेंगी। इसी समय अहिंदी भाषी तरह-तरह की माँगें पेश करने लगे हैं। बंगाली कहते हैं कि हिंदी से लिंग-भेद का झगड़ा हटा दिया जावे, गुजराती चाहते हैं कि उनकी लिपि की तरह हिंदी-लिपि भी सिरमुंडी सी कर दी जावे। ऐसा मालूम हो रहा है कि जैसे हिंदी कोई अनाथ भाषा हो, मानों उसका कोई घर-द्वार ही न हो और उस पर विशेष कृपा की जा रही हो। ये कठिनाइयाँ भविष्य में और भी बढ़ेंगी। आवश्यकता इस बात की है कि हिंदी-भाषी अपनी भाषा की निश्चित

प्रांतीय सीमाओं को समझें और अपनी भाषा के प्रांतीय महत्त्व को अनुभव करें। राष्ट्रभाषा न होने पर भी हिंदी १०,११ करोड़ भारतीयों की साहित्यिक भाषा है और रहेगी। उसका असली बनाव-बिगाड़ तो इस हिंदी-जनता पर ही निर्भर है। भारत की समस्त आधुनिक भाषाओं में हिंदी को राष्ट्रभाषा का पद दिया जाना कुछ ऐतिहासिक और भौगोलिक कारणों के फलस्वरूप अनिवार्य है। यह हिंदी पर कोई एहसान करना नहीं है। राष्ट्रभाषा होने पर भी हिंदी की असली नींव उसके प्रांतीय रूप में है और रहेगी। अंतर्प्रांतीय गौरव प्राप्त करने के लालच में हिंदी के प्रांतीय रूप को तोड़ने-मरोड़ने या नष्ट करने की आवश्यकता नहीं है।

सच तो यह है कि राष्ट्रभाषा होने के मान और लालच की वजह से इस समय हिंदी भाषी भुलावे में पड़ गए हैं और अपनी वास्तविक समस्याओं की या तो उपेक्षा कर रहे हैं और या उनके संबंध में ठीक दृष्टिकोण से विचार करने में असमर्थ हो गए हैं। वास्तव में हिंदी-भाषियों की शक्ति का समस्त उपयोग हिंदी की भौगोलिक सीमा के अन्दर अपनी भाषा और साहित्य को दृढ़ और स्थायी बनाने में होना चाहिए और अपनी घरेलू कठिनाइयों और समस्याओं को सुलझाने में होना चाहिए। अन्य प्रांतवाले हिंदी को अंतर्प्रांतीय भाषा के रूप में अपनावेंगे तो उनका ही हित है, नहीं अपनावेंगे तो वे जानें। अपने घर को अस्तव्यस्त अवस्था में छोड़ कर पराये घर की मदद करने को दौड़ते फिरना बुद्धिमत्ता का लक्षण नहीं है। किंतु दुर्भाग्य तो यह है कि हिंदी-भाषी अभी अपने घर की सीमाओं तक से ठीक-ठीक परिचित नहीं हैं, घर को ठीक करना और सुधारना तो दूर की बात दिखलायी पड़ती है।

३—साहित्यिक हिंदी को नष्ट करने के उद्योग

सवा सौ से भी अधिक वर्ष हुए जब १९वीं शताब्दी के प्रारंभ में खड़ी बोली हिंदी गद्य के संबंध में निश्चित प्रयोग हुए थे। इन प्रारंभिक प्रयोगों में से सदल मिश्र की शैली से मिलती-जुलती हिंदी को अपना कर भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र ने १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में इस संबंध में एक निश्चित मार्ग निर्धारित कर दिया। २०वीं शताब्दी के प्रारंभ में पंडित महावीरप्रसाद द्विवेदी ने इस मार्ग के रोड़े-कंकड़ बीनकर इसे सब के चलने योग्य बनाया। पिछले २०-२५ वर्षों से हिंदी की समस्त संस्थाएँ, पत्र-पत्रिकाएँ, लेखकवृंद तथा विद्यार्थीगण इसी आधुनिक साहित्यिक हिंदी के माध्यम को अपना कर अपना समस्त कार्य कर रहे हैं तथा स्वाभाविकतया इसे अधिक प्रौढ़ तथा परिमार्जित करने में अधिकाधिक सहायक हो रहे हैं।

किंतु इधर कुछ दिनों से हिंदी को इस चिर-निश्चित साहित्यिक शैली को नष्ट करने के संबंध में कई ओर से उद्योग हो रहे हैं। इंशा, राजा शिवप्रसाद तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय के 'ठेठ हिंदी' प्रयोगों की तरह कुछ दिनों तक इस प्रकार के उद्योग व्यक्तिगत थे, किंतु हिंदियों की उदासीनता के कारण ये धीरे-धीरे अधिक सुसंगठित होते जा रहे हैं। यदि इन घातक प्रवृत्तियों का नियंत्रण न किया गया तो साहित्यिक हिंदी-शैली को भारी धक्का पहुँचने का भय है। आत्मरक्षा की दृष्टि से समस्त प्रमुख विरोधी शक्तियों की स्पष्ट जानकारी अत्यंत आवश्यक है।

साहित्यिक हिंदी के विरोध ने निम्नलिखित रूप धारण कर रक्खे हैं—

१—प्रांतीय शिक्षा-विभाग की 'कामन लैंग्वेज़' वाली नीति तथा स्कूलों में अँगरेज़ी पारिभाषिक शब्दावली का प्रयोग।

२—हिंदुस्तानी ऐकेडेमी के कुछ प्रमुख संचालकों की 'हिंदुस्तानी भाषा' गढ़ने की नीति।

३—हिंदी साहित्य-सम्मेलन के वर्तमान कर्णधारों की 'राष्ट्रभाषा' की कल्पना जो धीरे-धीरे उर्दू की ओर झुक रही है।

४—भारतीय साहित्य-परिषद्, वर्धा, की 'हिंदी यानी हिंदुस्तानी' वाली

प्रवृत्ति जिसका उल्लेख इस संस्था के नियमों में स्पष्ट शब्दों में है।

इनके अतिरिक्त प्रगतिशील लेखकसंघ (प्रोग्रेसिव राइटर्स असोसिएशन) जैसी छोटी-छोटी संस्थाएँ तथा कुछ थोड़े-से स्वतंत्र व्यक्ति भी हैं। किंतु इनका पृथक् उल्लेख करना अनावश्यक है, क्योंकि इनको प्रोत्साहन किसी न किसी तरह उपर्युक्त चार मुख्य दिशाओं से ही मिलता है। अतः इन्हीं चारों पर एक दृष्टि डालना आवश्यक प्रतीत होता है। साधारण विश्लेषण करने से एक अत्यंत मनोरंजक परिणाम निकलता है। वह यह है कि इन विरोधी शक्तियों में से पहले दो के पीछे सरकारी नीति है और अंतिम दो के पीछे कांग्रेस महासभा की नीति। अपने देश के ये दो विरोधी दल साहित्यिक हिंदी को बलिदान करने में संयोग से एक हो गए हैं, यह एक विचित्र किंतु विचारणीय बात है।

प्रांतीय सरकार का कहना है कि जब तक हिंदी और उर्दू मिलकर एक भाषा का रूप धारण नहीं कर लेतीं तब तक प्रांत की भाषा-संबंधी समस्या हल नहीं हो सकती। कदाचित् 'न नौ मन तेल होगा न राधा नाचेंगी'। वास्तव में जिस दिन 'कामन लैंग्वेज़' वाली नीति प्रारंभ हुई थी, उसी दिन इसका पूर्ण शक्ति से विरोध होना चाहिए था, किंतु हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं का दृष्टिकोण सार्वभौम तथा अखिल भारतवर्षीय रहता है, अतः हिंदियों के नित्यप्रति के जीवन से संबंध रखने वाली व्यावहारिक समस्याओं पर विचार करने में उन्हें संकुचित प्रांतीय दृष्टिकोण की गंध आने लगती है। जो हो, इस उपेक्षावृत्ति का फल यह हुआ है कि आज हमारे बच्चों की शिक्षा का माध्यम न हिंदी है, न उर्दू और न अँगरेज़ी। तीनों में से एक भी भाषा वे अच्छी नहीं सीख पाते। एक तरह से हमारी वर्तमान संस्कृति-संबंधी अवस्था का यह सच्चा प्रतिबिंब है।

हिंदुस्तानी ऐकेडेमी की स्थापना प्रांतीय सरकार ने हिंदुस्तानी भाषा गढ़ने के उद्देश्य से नहीं की थी। यह बात इस संस्था के नियमों तथा आज तक के प्रकाशित ग्रंथों को देखने से सिद्ध हो सकती है; किंतु दुर्भाग्य से इस संस्था के नाम तथा कुछ प्रमुख संचालकों के व्यक्तिगत विचारों के कारण यह रोग इस संस्था के पीछे लग गया है, जिससे इस संस्था की उपादेयता में बाधा पड़ने की संभावना है। वास्तव में इस संस्था को 'हिंदी-उर्दू ऐकेडेमी' ही रहना चाहिए।

कांग्रेसवादियों में हिंदी को हिंदुस्तानी अथवा सरल उर्दू बनाने के उद्योग का मुख्य अभिप्राय मुसलमानों के साथ समझौता करना मात्र है। हिंदी की जिन संस्थाओं में कांग्रेसवादियों का ज़ोर है, वहाँ काँग्रेस की इस नीति का प्रवेश हो गया है। प्रारंभ में हिंदी-साहित्य-सम्मेलन ने अहिंदी प्रांतों में हिंदी का प्रचार राष्ट्रीय एकता की दृष्टि से प्रारंभ किया था। शीघ्र ही इस कार्य का नेतृत्व कांग्रेसी लोगों के हाथ में चला गया। इसका फल यह हो रहा है कि इस अंतर्प्रांतीय हिंदी के नाम में तो परिवर्तन हो ही गया, साथ ही साथ रूप में भी शीघ्र ही परिवर्तन होने की पूर्ण संभावना है। अभी कुछ ही दिन हुए साहित्य-सम्मेलन की एक कमिटी में यह प्रस्ताव पेश था कि सम्मेलन की 'राष्ट्रभाषा' परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए उर्दू-लिपि की जानकारी भी अनिवार्य समझी जाय। यदि साहित्य-सम्मेलन की बागडोर और कुछ दिनों कांग्रेसी लोगों के हाथ में रही तो यह प्रस्ताव तथा इसी प्रकार के अन्य प्रस्ताव निकट भविष्य में स्वीकृत हो जायँगे और उस समय हिंदी-साहित्य-सम्मेलन हिंदी भाषा और देवनागरी लिपि के साथ-साथ उर्दू भाषा और उसकी लिपि का प्रचार भी करने लगेगा। इंदौर का प्रस्ताव इस भावी नीति की प्रस्तावना थी।

भारतीय साहित्य-परिषद् का वर्धा में होना ही इस बात का द्योतक है कि यह संस्था कांग्रेस महासभा की देश-संबंधी साधारण नीति का साहित्यिक अंग है। अतः इसके नियमों में "इस परिषद् का सारा काम हिंदी यानी हिंदुस्तानी में होगा' का रहना आश्चर्यजनक नहीं है। इस नियम के अनुसार तो हिंदी साहित्य-सम्मेलन का नाम भी 'हिंदी यानी हिंदुस्तानी साहित्य-सम्मेलन' हो सकता है। ऐसी अवस्था में 'हिंदी-उर्दू यानी हिंदुस्तानी ऐकेडेमी' 'हिंदी यानी हिंदुस्तानी साहित्य-परिषद्', 'हिंदुस्तानी यानी हिंदी साहित्य-सम्मेलन' और 'कामन लैंग्वेज़' की नीति, ये चारों मिलकर एक और एक ग्यारह की कहावत चरितार्थ कर सकते हैं।

भारतवर्ष की जातीय भूमियों में केवल हिंदी प्रदेश ही ऐसा भूमि-भाग है जहाँ द्विभाषा समस्या उत्पन्न हो गई है। वास्तव में ऊपर के समस्त आंदोलन हिंदी-उर्दू की समस्या को सुलझाने के स्थान पर उसे अधिक जटिल बनाते जा रहे हैं। भारतवर्ष के अन्य प्रांतों के निवासियों के समान ही हिंदियों की भाषा, लिपि तथा साहित्य का झुकाव सदा से भारतीयता की ओर था,

है और रहना चाहिए। मुग़ल-साम्राज्य के अंतिम दिनों में तत्कालीन परिस्थितियों के कारण दरबारी कारबार तथा साहित्य की भाषा फ़ारसी के स्थान पर हिंदवी हो गई। इस हिंदवी भाषा का रूप विदेशी फ़ारसी-अरबी आदर्शों से ओत-प्रोत होना स्वाभाविक था। ऐसी अवस्था में इसका भिन्न उर्दू नाम हो गया। राजनीतिक परिस्थिति के परिवर्तन के साथ-साथ उर्दू के इस कृत्रिम महत्त्व में भी परिवर्तन हो गया है, किंतु प्राचीन प्रभाव अभी थोड़े बहुत चल रहे हैं। हिंदी-जनता ने हिंदी के उर्दू रूप को साहित्य के क्षेत्र में उस समय भी ग्रहण नहीं किया जब इस प्रदेश में उर्दू के पीछे तत्कालीन राज्य का संरक्षण था। अब परिवर्तित राजनीतिक परिस्थिति में ऐसा हो सकना और भी अधिक असंभव है।

कांग्रेस अथवा सरकार के क्षणिक राजनीतिक दृष्टिकोणों से प्रभावित न होकर हिंदियों को चाहिए कि सवा सौ वर्ष के सतत उद्योग से सुसंस्कृत अपनी भाषा-शैली को नाश से बचावें। हाँ, यदि हिंदी-भाषा नीचे लिखे परिणाम को साहित्यिक क्षेत्र में भी स्वीकृत करने को तैयार हो तो दूसरी बात है। वह परिणाम होगा—हिंदी, यानी राष्ट्रभाषा, यानी कामन लैंग्वेज़, यानी हिंदुस्तानी, यानी उर्दू।

४—पंजाब की साहित्यिक भाषा कौन होनी चाहिए ? हिंदी, उर्दू या पंजाबी ?

ब्रिटिश भारत का आधुनिक पंजाब प्रांत तीन-चार भाषा-भाषी प्रदेशों का समूह है। दिल्ली-अंबाला के निकट का पूर्वी-पंजाब हिंदी-भाषी है। यह प्रदेश वास्तव में संयुक्त प्रांत का एक अंश है, जो ऐतिहासिक परिस्थितियों के कारण इस समय पंजाब प्रांत का अंग हो गया है। शिमला के चारों ओर कुछ पहाड़ी बोलियाँ बोली जाती हैं, जिनका पंजाबी से कुछ भी संबंध नहीं है। असली पंजाबी भाषा लाहौर-अमृतसर के निकटवर्ती पंजाब के मध्य भाग में बोली जाती है। रावलपिंडी से लेकर मुलतान तक की पश्चिमी पंजाबी या लहंदा भाषा पंजाबी से कुछ ही भिन्न है। अतः असली पंजाब पंजाबी और लहंदा-भाषी प्रदेश कहा जा सकता है। शिमला-दिल्ली पंजाबी-भाषियों की अपनी भूमि नहीं है।

किंतु यहाँ जिस समस्या पर विचार करना है वह जनता की भाषा की समस्या नहीं है बल्कि पंजाब प्रांत की साहित्यिक भाषा की समस्या है। यह सभी जानते हैं कि भारतवर्ष में पंजाब ही एक ऐसा मुख्य प्रांत है, जिसकी साहित्यिक भाषा प्रादेशिक भाषा से बिलकुल भिन्न है। पंजाब की साहित्यिक भाषा और राजभाषा पंजाबी न होकर खड़ी बोली का उर्दू रूप है। यह प्रायः उर्दू लिपि में लिखी जाती है। आर्यसमाज तथा कुछ अन्य प्रभावों के कारण खड़ी बोली का दूसरा रूप हिंदी देवनागरी लिपि के साथ धीरे-धीरे पंजाब में फैल रहा है, किंतु अभी इसका क्षेत्र विशेषतया पढ़ी-लिखी पंजाबी स्त्रियों तक ही सीमित है। पंजाबी भाषा तथा गुरुमुखी लिपि सिक्खों के बीच में धार्मिक महत्त्व के कारण अपना विशेष स्थान रखती हैं। इस तरह पंजाब में तीन साहित्यिक भाषाएँ चल रही हैं। प्रांत-प्रधान साहित्यिक भाषा तो उर्दू है, साधारणतया स्त्रियों में हिंदी भाषा और साहित्य का कुछ चलन है तथा सिक्खों का धार्मिक साहित्य पंजाबी में है। किसी भी प्रांत के लिये तीन-तीन साहित्यिक भाषाओं का होना उसकी उन्नति में बाधक है। आगे चल कर पंजाबियों को इन तीन भाषाओं में से एक को सर्वोपरि स्थान देना होगा।

समस्या यह है कि यह स्थान किसको मिलना चाहिए—उर्दू को, हिंदी को या पंजाबी को।

पंजाब में उर्दू भाषा और लिपि के प्रचार का कारण मुसलमानी प्रभाव है। पंजाब में लगभग आधे इस्लाम धर्मावलंबी हैं, जिनकी मातृभाषा यद्यपि पंजाबी ही है, किंतु जो मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव के कारण दिल्ली-लखनऊ की उर्दू से विशेष ममता रखते रहे हैं। मुसलमान आक्रमणकारियों के मार्ग में पड़ने तथा दिल्ली-आगरा के मुसलमानी केंद्रों के निकट होने के कारण, पंजाब में मुसलमानी प्रभाव, भाषा के साथ-साथ, संस्कृति के अन्य अंगों पर भी पर्याप्त पड़ा है। इस समय उर्दू पंजाबी मुसलमानों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि पंजाबी हिंदुओं ने भी व्यावहारिक दृष्टि से उसे अपना लिया है। पंजाब की कचहरी, स्कूल, अखबार आदि की भाषा उर्दू ही हो गई है।

किंतु उर्दू भाषा पंजाब की जनता की भाषा पंजाबी से बहुत भिन्न है। ग्रामीण पंजाबी स्त्री-पुरुष न उर्दू बोल सकते हैं, न आसानी से समझ ही सकते हैं। जनता के हाथ में अधिकार पहुँचते ही भाषा संबंधी यह अस्वाभाविक परिस्थिति बहुत दिन न रह सकेगी।

थोड़े दिनों से पंजाब के हिंदुओं में, जो आर्यसमाज या हिंदू महासभा जैसी संस्थाओं के प्रभाव में आए हैं, इस बात का यत्न किया जा रहा है कि पंजाब में उर्दू के स्थान पर हिंदी को बिठला दिया जावे। हिंदू दृष्टि-कोण से भले ही इस परिवर्तन से कुछ लाभ हो, किंतु पंजाब प्रांत के दृष्टि-कोण से उर्दू और हिंदी दोनों ही पंजाबियों के लिये इतर प्रांतीय भाषाएँ हैं और इन दोनों के सीखने में इनको बराबर ही परिश्रम करना पड़ेगा, कदाचित् हिंदी सीखने में कुछ अधिक ही परिश्रम करना पड़े। फिर पंजाब के लगभग पचास फीसदी मुसलमान हिंदी को साहित्यिक भाषा तथा राजभाषा के रूप में कभी भी अपनाने को तैयार न होंगे। इस संबंध में सिक्खों की ओर से भी विशेष सहानुभूति मिलने की आशा नहीं की जा सकती। ऐसी अवस्था में हिंदी के अधिक प्रचार से पंजाब की भाषा संबंधी प्रांतीय समस्या के सरल होने के स्थान पर और भी अधिक जटिल होने की आशंका है।

यदि पूर्वी पंजाब का हिंदी-भाषी प्रदेश पंजाब से निकाल कर दिल्ली या

संयुक्त प्रांत में डाल दिया जाय तो शेष असल पंजाब की स्वाभाविक भाषा पंजाबी रह जाती है। यह सच है कि पढ़े-लिखे पंजाबियों का ध्यान इसकी ओर अभी तक विशेष नहीं गया है, इसी कारण पंजाबी साहित्य की उन्नति अभी विशेष नहीं हो सकी है। उर्दू, हिंदी और पंजाबी में पंजाबी ही ऐसी भाषा है जिसके संबंध में पंजाबी मुसलमान, हिंदू और सिक्खों में एक मत हो सकता है। इसी प्रकार गुरुमुखी लिपि पंजाब की अपनी लिपि है। पंजाबी भाषा के द्वारा ही तरह-तरह का प्राचीन तथा आधुनिक ज्ञान पंजाब के ग्रामों तक सुविधा से पहुँचाया जा सकता है। भारत की राष्ट्रभाषा के रूप में हिंदी तथा देवनागरी लिपि का विशेष स्थान अन्य प्रांतों के समान पंजाब में भी रहेगा, किंतु प्रांतीय भाषा का स्थान पंजाब में पंजाबी के अतिरिक्त और किसी को नहीं मिलना चाहिए।

जब तक बंगाल, बंगाली देशवासी और बंगाली भाषा; गुजरात, गुजराती देशवासी और गुजराती भाषा; फ्रांस, फ्रांसीसी देशवासी और फ्रांसीसी भाषा; जापान, जापानी देशवासी और जापानी भाषा की तरह पंजाब, पंजाबी देश-वासी और पंजाबी भाषा की पक्की तिरकुट न बनेगी तब तक पंजाब की उन्नति का एक पाया निर्बल रहेगा। दो पैर की तिपाई क्षण भर ही खड़ी रह सकती है।

५—क्या प्रस्तावों द्वारा हिंदी का कायाकल्प हो सकता है ?

जब से १०, १२ करोड़ की साहित्यिक भाषा हिंदी के भारत की राष्ट्रभाषा अर्थात् अँग्रेज़ी के समान चंद लाख लोगों की अंतर्प्रांतीय भाषा बनने का प्रश्न उठा है तब से लोगों को हिंदी में अनेक त्रुटियाँ दिखलाई पड़ने लगी हैं। इनमें मुख्य व्याकरण-संबंधी त्रुटियाँ हैं—विशेषतया लिंग-संबंधी। इन सुधारआयोजनाओं पर कुछ व्यक्तियों तथा संस्थाओं द्वारा गंभीरतापूर्वक विचार हो रहा है। हिंदी-भाषियों की साहित्यिक संस्थाओं के सूत्रधार प्रायः राजनीतिक क्षेत्र में कार्य करनेवाले हैं, अतः यह स्वाभाविक है कि उस क्षेत्र के अपने अनुभव को ये महानुभाव साहित्य तथा भाषा पर भी घटित करना चाहते हैं। उनकी धारणा है कि आंदोलन तथा प्रस्तावों के द्वारा वे भाषा के प्रवाह को भी जिधर चाहें मोड़ सकते हैं। वास्तव में यह भारी भ्रम है। सभा-सम्मेलनों के प्रस्तावों के बल पर हिंदी भाषा के रूप को बदलने में किस प्रकार की कठिनाइयाँ पड़ेंगी उनका दिग्दर्शन बहुत संक्षेप में नीचे कराया जाता है।

साधारणतया प्रत्येक व्यक्ति अपनी मातृभाषा को अनुकरण के द्वारा सीखता है, व्याकरण के सहारे नहीं। तीन वर्ष का भी हिंदी-भाषी बालक शुद्ध हिंदी बोल लेता है किंतु वह यह भी नहीं जानता कि संज्ञा और क्रिया में क्या भेद है अथवा उसकी मातृभाषा में कितने लिंग या वचन होते हैं। फलतः हिंदी भाषा में लौट-पौट करने के प्रस्ताव ९९ प्रतिशत हिंदी-भाषियों तक नहीं पहुँच सकेंगे, न वे उन्हें समझ ही सकेंगे। यदि 'सुधरी हुई' हिंदी में कुछ किताबें निकाली गईं और हिंदी-भाषी बच्चों को ज़बरदस्ती पढ़ाई भी गईं तो सर्व-साधारण द्वारा बोली जाने वाली हिंदी और इस सुधरी हुई हिंदी में संघर्ष होगा। क्योंकि हिंदी-भाषी बालक अपनी भाषा को पुस्तक पढ़ना सीखने से पहले ही सीख चुकता है अतः वह इस सुधरी हुई किताबी हिंदी से सहसा प्रभावित नहीं हो सकेगा। हिंदी के वर्तमान स्थिर रूप के संबंध में एक भारी गड़बड़ी अवश्य पैदा हो सकती है।

हिंदी सीखने वाले अन्य भाषा-भाषियों को व्याकरण की पुस्तकों के सहारे हिंदी के नाम से अवश्य कोई भी भाषा सिखलाई जा सकती है। ऐसी परिस्थिति में वास्तविक हिंदी तथा इस सुधरी हुई राष्ट्रभाषा अथवा हिंदी-हिंदुस्तानी में भारी अंतर हो जावेगा जिससे हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के स्वप्न में सहायता के स्थान पर हानि पहुँचने की अधिक संभावना है। अन्य भाषा-भाषी यह कह सकते हैं कि आपकी भाषा का कोई निश्चित रूप ही नहीं है—कुछ पुस्तकों में एक भाषा है, कुछ में दूसरी, तथा बोलने वाले भिन्न भाषा बोलते हैं। इनमें से हिंदी किसको माना जावे ?

इन कठिनाइयों के अतिरिक्त प्राचीन तथा अब तक के प्रकाशित हिंदी साहित्य की भाषा में और इस सुधरी हुई हिंदी में भी संघर्ष उपस्थित होगा। उदाहरणार्थ या तो सूर, तुलसी और केशव के लिंग के प्रयोगों को ठीक किया जावे तथा भारतेंदु, द्विवेदीजी, गुप्तजी, प्रेमचंद, प्रसाद, उपाध्यायजी आदि के ग्रंथों के नये संशोधित संस्करण निकाले जावें, अथवा हिंदी के दो रूप माने जावें—एक सुधारकों से पूर्व के साहित्य का तथा दूसरा सुधार-युग के बाद के साहित्य का। यह हिंदी भाषा को सरल करना तो नहीं ही हुआ, इतना निश्चित है।

एक बात और चिंत्य है। हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने में बहुत अधिक सहायता उर्दू के प्रचार के कारण मिल रही है। मुसलमानों के प्रभाव के साथ साथ उर्दू दक्षिण में हैदराबाद तक पहुँच गई; उत्तर भारत के समस्त नगरों में और क़स्बों में इसका प्रचार था ही। वर्तमान हिंदी और उर्दू के व्याकरणों का ढाँचा लगभग समान है। किंतु सुधार हो जाने पर खड़ी बोली हिंदी और उर्दू में भाषा की दृष्टि से भी भेद हो जावेगा। उर्दू वर्ग इन सुधारों को मानने से रहा। ऐसी अवस्था में हिंदी का पक्ष और भी अधिक निर्बल हो जावेगा। हिंदी-हिंदुस्तानी और उर्दू-हिंदुस्तानी निकट आने के स्थान पर एक दूसरे से दूर हो जावेंगी।

यहाँ यह स्मरण दिला देना आवश्यक है कि भाषा के रूप में परिवर्तन करना एक बात है और अक्षरविन्यास आदि में एक-रूपता लाने का प्रयास दूसरी बात है। 'हुये' कैसे लिखा जावे ? 'हुए', या 'हुये'। कारक-चिह्न संज्ञा तथा सर्वनाम के साथ लिखे जावें या पृथक्। 'धर्म', 'कर्म', 'आर्य' आदि में दो व्यंजन रहें या एक ? इस तरह की स्थिरता लाना साहित्यिक भाषा में

अनिवार्य है तथा संभव है। हिंदी की लेखन शैली में तथा व्याकरण संबंधी रूपों में भी जहाँ एक से अधिक रूप प्रचलित हैं। उदाहरणार्थ (दही अच्छा है, अच्छी नहीं) उनमें भी एक-रूपता लाई जा सकती है और उसके लाने का प्रयास करना चाहिए। किंतु 'बात' 'रात' आदि समस्त अकारांत अप्राणि-वाचक शब्द पुल्लिंग कर दिये जावें जिससे 'बात अच्छा है' और 'रात हो गया' जैसे प्रयोग आदर्श हिंदी समझे जावें या ऐसे प्रयोगों को भी ठीक समझा जावे, इस प्रकार के प्रस्ताव भाषा के रहस्य को न जानने वाले ही कर सकते हैं। इस प्रकार के उद्योगों का परिणाम कुछ समय के लिये अव्यवस्था उपस्थित करके हिंदी की बाढ़ को रोक देने के सिवाय और कुछ नहीं हो सकेगा। यों समुद्र की लहरों को रोकने का प्रयास करने वाले राजा कैन्यूट भाषा के क्षेत्र में भी प्राचीन काल से होते चले आए हैं और भविष्य में भी होते रहेंगे।

६—भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में हिंदी प्रचार का रूप तथा उसके उपाय

हिंदी भाषा की दिन-दिन उन्नति हो रही है और उसका भविष्य अत्यंत आशापूर्ण है। तो भी यह विचार करना हितकर होगा कि हिंदी के लाभ के लिये भविष्य में किस रीति से कार्य करना चाहिए। 'हिंदी भाषा का भारत में क्या स्थान है ?' सबसे पहले इस संबंध में ठीक परिस्थिति को समझ लेना आवश्यक है।

इसके मानने में किसी को भी आपत्ति नहीं हो सकती कि हिंदी समस्त भारत की मातृ-भाषा नहीं है और न कदाचित् हो ही सकती है। भारतवर्ष के प्रदेशों के दो भाग हैं—एक वे जिनमें हिंदी हिंदुओं की साहित्यिक भाषा स्वीकृत कर ली गई है और दूसरे वे जिनमें हिंदी को यह गौरव प्राप्त नहीं है। प्रथम श्रेणी में संयुक्त प्रांत, दिल्ली, मध्यप्रांत (चार मराठी ज़िलों को छोड़ कर) बिहार (उड़ीसा छोड़ कर), मध्यभारत तथा राजस्थान हैं। दूसरी श्रेणी में भारत के शेष सब प्रांत हैं। सबसे प्रथम मैं दूसरी श्रेणी के प्रदेशों पर विचार करूँगा।

भारत के जिन प्रदेशों में हिंदी साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण नहीं की गई है उनके भी दो मुख्य विभाग हैं। प्रथम श्रेणी में हिंदी से मिलती-जुलती आर्य भाषाएँ बोलने वाले प्रदेश हैं जैसे, पंजाब, काश्मीर, सरहद्दी सूबा, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, उड़ीसा, बंगाल तथा आसाम। इनमें भी प्रत्येक की स्थिति पृथक्-पृथक् है।

यद्यपि पंजाब की जनता की अपनी भाषा पंजाबी है, किंतु शहरवाले पंजाबियों ने हिंदी के दूसरे रूप उर्दू को शिष्ट लोगों की भाषा तथा साहित्यिक भाषा के रूप में ग्रहण कर रक्खा है। आर्य-समाज के प्रभाव के कारण कुछ पढ़े-लिखे हिंदुओं के बीच हिंदी का भी प्रचार है। किंतु यह ध्यान रखना चाहिए कि हिंदी और उर्दू को व्यवहार में लाने वाले ऐसे पढ़े-लिखे पंजाबियों की संख्या दो करोड़ में केवल १० लाख है। इस विशेष स्थिति के कारण

पंजाब में हिंदी प्रचार का तात्पर्य है पढ़े-लिखे पंजाबियों के बीच उर्दू के स्थान में हिंदी को स्थान दिलाना। यह काम आसान नहीं है क्योंकि यह ध्यान रखना चाहिए कि पंजाब में ५५ फ़ी सदी मुसलमान हैं जो उर्दू को तो ग्रहण कर सकते हैं किंतु हिंदी को साधारणतया कभी भी ग्रहण नहीं करेंगे। तो भी शेष ४५ फ़ी सदी हिंदुओं में विशेषतया पढ़े-लिखे लोगों के बीच कुछ काम हो सकता है। यह काम लड़कियों की शिक्षा के रूप में अभी भी हो रहा है, और इसमें आर्य-समाज से विशेष सहायता मिल रही है। पंजाब में कन्या महाविद्यालय, जालंधर हिंदी प्रचार का ऐसा ही एक केंद्र है। काश्मीर तथा सरहदी सूबे की परिस्थिति पंजाब से मिलती-जुलती है केवल अंतर इतना है कि काश्मीर में ७९ फ़ी सदी मुसलमान हैं, तथा सरहदी सूबे में ९१ फ़ी सदी। शेष २१ तथा ९ फ़ी सदी हिंदू जनता के पढ़े-लिखे वर्ग का ध्यान उर्दू से खींच कर हिंदी की ओर दिलाया जा सकता है। यह स्पष्ट हो गया होगा कि पंजाब, काश्मीर तथा सरहदी सूबे में इस बात का प्रचार करना है कि पढ़े-लिखे हिंदुओं में यथासंभव उर्दू के स्थान में हिंदी को स्थानापन्न किया जावे।

सिंध की स्थिति भी इन प्रदेशों से बहुत भिन्न नहीं है। सिंध में मुसलमानों की आबादी ७५ प्रतिशत है। सिंधवासियों की अपनी भाषा अभी बहुत उन्नत नहीं हो पाई है। पढ़े-लिखे हिंदू और मुसलमान सिंधी उर्दू को बहुत कुछ अपनाये हुए हैं। सबसे उत्तम तो यह हो कि सिंधी भाषा स्वयं इतनी उन्नत हो जाय कि उर्दू का स्थान ले सके किंतु तो भी २५ प्रतिशत हिंदुओं की दृष्टि राष्ट्रभाषा हिंदी की ओर दिलाना हमारा कर्तव्य है।

गुजरात तथा महाराष्ट्र की स्थिति भिन्न है। इन दोनों प्रदेशों में हिंदू अधिक संख्या में हैं तथा इन प्रदेशों की अपनी-अपनी भाषाएँ—गुजराती और मराठी—साहित्यिक दृष्टि से अत्यंत उन्नत अवस्था में हैं। यह सोचना कि इन प्रदेशों में हिंदी कभी भी मातृ-भाषा की तरह हो सकती है बड़ी भारी भ्रांति होगी। यह बात अवश्य होनी चाहिए कि इन प्रदेशों के विद्यालयों में हिंदी की पढ़ाई का प्रबंध सहायक भाषा के रूप में हो जाय, जिससे पढ़े-लिखे गुजराती और मराठी भाइयों की भविष्य की पीढ़ियाँ अपनी-अपनी भाषाओं के अतिरिक्त राष्ट्रभाषा हिंदी का भी व्यावहारिक ज्ञान रख सकें।

उड़ीसा, बंगाल तथा आसाम की परिस्थिति महाराष्ट्र तथा गुजरात प्रदेशों के ही समान है। उड़ीसा तथा आसामी भाषाएँ अभी बहुत उन्नत अवस्था

में नहीं हैं, किंतु दिन-दिन उन्नति कर रही हैं। बंगाली भाषा आर्य भाषाओं में सबसे अधिक उन्नत अवस्था में है। इन प्रदेशों के निवासी अपनी-अपनी भाषाओं को शिक्षा तथा साहित्य का माध्यम रक्खेंगे ही किंतु साथ ही यदि हिंदी को भी सहायक भाषा की तरह अधिक संख्या में पढ़ने लगें तो हिंदी को राष्ट्रभाषा का स्थान शीघ्र देने में बहुत सहायता मिल सकेगी।

दक्षिण भारत की द्राविड भाषाएँ बोलने वाले प्रदेशों की स्थिति उत्तर भारत के उपर्युक्त आर्य भाषा-भाषी प्रदेशों से भिन्न है। पंजाबी, गुजराती, मराठी, उड़िया, बंगाली तथा आसामी आदि भाषाएँ हिंदी से थोड़ी बहुत मिलती-जुलती हैं तथा हिंदी भाषा प्रदेशों तथा इन अन्य प्रदेशों के बीच में लोगों के अधिक समुदाय में आते-जाते रहने के कारण हिंदी उत्तर भारत के प्रायः समस्त बड़े-बड़े शहरों में थोड़ी बहुत समझ ली जाती है, किंतु मद्रास प्रांत के तामिल, तेलगू, मलयालम तथा कनाड़ी बोलने वाले प्रदेशों के संबंध में यह नहीं कहा जा सकता। दक्षिण भारत की यह द्राविड भाषाएँ उत्तर भारत की आर्य भाषाओं से बिलकुल भिन्न हैं। दक्षिण के हिंदू यदि संस्कृत से अनभिज्ञ होते और मुसलमान काल में दक्षिण में यदि उर्दू हैदराबाद रियासत में क़ायम न हो गई होती तो भाषा की दृष्टि से उत्तर और दक्षिण भारत में सचमुच पूर्व और पश्चिम का अंतर होता। इन कारणों के होते हुए भी दक्षिण की भाषाएँ हिंदी से बहुत भिन्न हैं और मद्रास प्रांत में हिंदी का प्रचार करना सरल कार्य नहीं है। यह अत्यंत प्रसन्नता की बात है कि हिंदी साहित्य सम्मेलन ने इस कठिन कार्य की दृढ़ रूप से नींव डाल दी है और मद्रास प्रांत में हिंदी प्रचार का कार्य धीरे-धीरे किंतु सुचारु रूप से हो रहा है। निज़ाम ने उस्मानिया यूनीवर्सिटी क़ायम करके अपनी रियासत के तेलगू और कनाड़ी बोलने वाली जनता के बीच में हिंदी के दूसरे रूप उर्दू के प्रचार का एक भारी केंद्र स्थापित कर दिया है इससे हैदराबाद रियासत में हिंदुस्तानी अतएव हिंदी समझने वाले लोगों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ने की संभावना है। इसका प्रभाव मद्रास प्रांत पर भी कुछ पड़ सकता है। मैसूर कनाड़ी भाषा-भाषियों का केंद्र है। वहाँ भी एक यूनीवर्सिटी खुलने का निश्चय हुआ है किंतु यह हैदराबाद की उस्मानिया यूनीवर्सिटी की तरह हिंदुस्तानी भाषा का केंद्र न होगी किंतु कनाड़ी तथा अंगरेज़ी का केंद्र होगी। मद्रास प्रांत के उत्तरी भाग में आंध्र यूनीवर्सिटी तो खुल चुकी है। दक्षिण भाग

में तामिल यूनीवर्सिटी की चर्चा भी रह-रह कर उठ रही है। संभव है ट्रावनकोर में मलयालय यूनीवर्सिटी भी स्थापित हो जावे। दक्षिण के इन समस्त विश्वविद्यालयों में हिंदी के पठन-पाठन को द्वितीय भाषा के रूप में स्थान दिलाने का यत्न होना चाहिए।

ऊपर दिये हुए दिग्दर्शन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि भारत के हिंदी न बोलने वाले प्रदेशों में हिंदी प्रचार का कार्य किस उद्देश्य से तथा किस रूप में होना चाहिए। इन सब प्रदेशों की अपनी-अपनी भाषाएँ हैं। हिंदी इन प्रादेशिक भाषाओं का स्थान नहीं लेना चाहती। भारत की राष्ट्रभाषा अर्थात् अंतर्प्रांतीय भाषा की हैसियत से वह इन सब प्रदेशों में सहायक भाषा के रूप में वर्तमान रहना चाहती है जिससे वह भारत के पढ़े-लिखे लोगों की वर्तमान राज-भाषा अंग्रेज़ी का स्थान भविष्य में बिना कठिनाई के ले सके।

अब हिंदी भाषी प्रदेशों में किये जाने वाले कार्य पर विचार करना है। इनकी आवश्यकता ऊपर दिये हुए प्रदेशों की आवश्यकता से भिन्न है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि संयुक्त प्रांत, दिल्ली, मध्यप्रांत, मध्यभारत, राजस्थान तथा बिहार, हिंदी भाषी कहलाये जा सकते हैं। इनमें सबसे मुख्य हिंदी भाषा की जन्मभूमि संयुक्त प्रांत है।

संयुक्त प्रांत हिंदी भाषा के समस्त मुख्य-मुख्य रूपों का घर है। हिंदी के प्राचीन साहित्यिक रूप अर्थात् अवधी तथा ब्रजभाषा साहित्य संयुक्त प्रांत की ही दो बोलियों की नींव पर खड़े हुए थे। हिंदी का आधुनिक साहित्यिक रूप भी संयुक्त प्रांत के पश्चिमोत्तर कोने में बिजनौर के निकट बोली जाने वाली खड़ी बोली के आधार पर ही निर्मित हो रहा है। उर्दू भी इसी खड़ी बोली की दूसरी शाखा है। वास्तव में जन्म से हिंदी उर्दू दो बहिनें हैं। अंतर केवल इतना हो गया है कि बड़ी होकर एक तो अपने हिंदू धर्म पर दृढ़ है, और दूसरी ने मुसलमान धर्म ग्रहण कर लिया है। हिंदी का घर होते हुए भी संयुक्त प्रांत में हिंदी का पूर्ण आधिपत्य नहीं है। यहाँ की उच्च तथा माध्यमिक शिक्षा का माध्यम अभी भी अंग्रेज़ी है। हिंदी को उच्च से उच्च शिक्षा का माध्यम बनाने के लिये हिंदी के ग्रंथ-भंडार को भिन्न-भिन्न विषयों के ग्रंथों से अभी बहुत कुछ भरना है। अंग्रेज़ी के अतिरिक्त संयुक्त प्रांत में हिंदी की बहिन उर्दू भी मौजूद है। यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि यद्यपि संयुक्त प्रांत में मुसलमानों की आबादी १५ फ़ी सदी से अधिक नहीं

है किंतु संयुक्त प्रांत के पश्चिमी भाग में स्वयं हिंदुओं के घरों में भी अभी उर्दू के पैर जमे हुए हैं। मेरठ, रोहिलखंड तथा आगरे कमिश्नरियों के पढ़े-लिखे लोगों से मिलने पर वस्तुस्थिति का ठीक पता चलता है। संयुक्त प्रांत के प्रत्येक हिंदू घर में हिंदी की स्थाई रूप से स्थापना करना हमारा मुख्य उद्देश्य होना चाहिए। संयुक्त प्रांत की वर्तमान अवस्था 'दिया तले अँधेरे' की कहावत चरितार्थ करती है। हिंदू जनता के अतिरिक्त संयुक्त प्रांत की सरकारी तथा गैर सरकारी सार्वजनिक संस्थाओं जैसे अदालत, स्कूल, यूनीवर्सिटी तथा प्रांतीय कांग्रेस सभा आदि का कारबार भी एकमात्र हिंदी में ही होना चाहिए। इस ओर भी पूर्ण उद्योग करने की आवश्यकता है।

दिल्ली की परिस्थिति पश्चिमी संयुक्त प्रांत से मिलती-जुलती है।

संयुक्त प्रांत तथा दिल्ली को छोड़ कर अन्य हिंदी भाषी प्रदेशों में हिंदी का प्रायः एकछत्राधिपत्य है। हिंदी-उर्दू की समस्या न मध्यप्रांत में है और न बिहार में है। मध्य प्रदेश तथा राजस्थान भी इस प्रश्न से मुक्त हैं। यह इन प्रदेशों का सौभाग्य है। मध्यप्रांत के हिंदी भाषी जिलों को अपनी भाषा तथा सभ्यता का अलग केंद्र बना कर तन्मय होकर हिंदी की उन्नति का काम करना चाहिए। इस समय हिंदुस्तानी मध्यप्रांत का केंद्र जबलपुर है, जहाँ से थोड़ा बहुत काम हो भी रहा है। खंडवा में भी हिंदी का बहुत काम हुआ है। बिहार में भी हिंदी को पूर्ण स्वत्व प्राप्त है। कभी-कभी मैथिली बोलने वालों को अपनी बोली का मोह ज़रूर हो आता है। मध्य प्रदेश तथा राजस्थान यदि चाहें तो आशातीत उन्नति कर सकते हैं। सौभाग्यवश इन प्रदेशों में एक तरह से स्वराज्य है। यदि हमारे हिंदू नरेश-गण चाहें तो एक-एक राज्य में हिंदी के कार्य का विशाल केंद्र बना सकते हैं। कुछ नहीं तो साहित्य सम्मेलन जैसे हिंदी की संस्थाओं को अथवा हिंदी भाषी प्रदेशों में स्थित विश्वविद्यालयों को धन देकर ये मनमाना हिंदी का काम करा सकते हैं। क्या अच्छा हो यदि राजस्थान के सब हिंदू नरेशगण मिलकर एक हिंदी विश्वविद्यालय की स्थापना कर दें। हिंदी के प्रचार और उन्नति में ऐसे विद्यालय से कितना अधिक लाभ हो सकता है यह बताना व्यर्थ है। हैदराबाद रियासत उस्मानिया यूनीवर्सिटी द्वारा उर्दू के लिये इस प्रकार का काम कर रही है। इसकी टक्कर का कार्य किसी भी हिंदू राज्य में हिंदी के लिये अभी तक नहीं हो रहा है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि हिंदी भाषी प्रदेश में हमें केवल प्रचार का कार्य ही नहीं करना है बल्कि यहाँ हिंदी के भविष्य की असली नींव भी दृढ़ करनी है। हिंदी का पुस्तक भंडार इन्हीं प्रदेशों के उद्योग से भरेगा। इन प्रांतों में हिंदी को उच्च से उच्च शिक्षा का माध्यम बनाना है, अतः साहित्य के अतिरिक्त हमें अन्य समस्त व्यावहारिक विषय, जैसे विज्ञान, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, इतिहास आदि पर उच्च से उच्च ग्रंथ तैयार करने हैं। यह काम थोड़ा बहुत आरंभ अवश्य हो गया, किंतु अभी दाल में नमक के बराबर भी नहीं है। क्या हिंदी में रसायनशास्त्र, भूगर्भशास्त्र अथवा विद्युत्शास्त्र की प्रामाणिक पुस्तकें हैं ? विज्ञान को जाने दीजिए। क्या हिंदी में भारतवर्ष का प्रामाणिक इतिहास है, अथवा भारतीय अर्थशास्त्र पर कोई ऐसा ग्रंथ है जिसे अंग्रेज़ों को अंग्रेज़ी में अनुवाद करने की आवश्यकता पड़े ? इस संबंध में सबसे प्रथम तो यह आवश्यक होगा कि अंग्रेज़ी तथा अन्य भाषाओं में लिखे गए प्रत्येक विषय के प्रामाणिक ग्रंथों का अनुवाद हिंदी में कर लिया जाय। उसके बाद मौलिक ग्रंथ आवश्यकतानुसार धीरे-धीरे लिखे जा सकेंगे। हिंदी प्रेमियों को याद होगा कि अभी कुछ ही दिनों पहले हिंदी में उपन्यास और गल्पें केवल बंगला आदि से अनूदित पढ़ने को मिलती थीं। अनुवादों से भंडार भर जाने पर साहित्य के इन अंगों पर मौलिक ग्रंथ लिखे गए। अनुवाद करना कोई लज्जा की बात नहीं है। कदाचित् सब लोगों को विदित न होगा कि यूरोप की भाषाओं में अंग्रेज़ी सबसे पीछे समझी जाती है। फ़रासीसी और जर्मन भाषाओं के सामने अंग्रेज़ी के मौलिक ग्रंथों का भंडार २० वर्ष पीछे समझा जाता है। बीसवीं शताब्दी में बीस वर्ष एक युग के बराबर है। किंतु व्यवहार-निपुण चतुर अंग्रेज़ जाति इसी अनुवाद के उपाय को काम में लाती है। जहाँ किसी भी विषय पर कोई अच्छी पुस्तक यूरोप की किसी भाषा में निकली कि झट शीघ्र से शीघ्र उसका अंगरेज़ी में अनुवाद हो गया। इन अनूदित ग्रंथों के सहारे ही अंग्रेज़ लोग नये ज्ञानोपार्जन करने में दूसरे यूरोपीय देशों के बराबर रहते हैं।

भारतवर्ष के बाहर भी हमें हिंदी का प्रचार करने की आवश्यकता है। इनमें सबसे प्रथम स्थान उन उपनिवेशों का है जहाँ भारतीय भाई जाकर बस गए हैं, जैसे दक्षिणी व पूर्वी अफ्रीका, फ़ीजी, मारीशस, बर्मा आदि। यह काम भी अत्यंत आवश्यक है। व्यावहारिक ग्रंथों के अतिरिक्त

साहित्यिक क्षेत्र में ही बहुत काम पड़ा है। हिंदी के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कवियों के ग्रंथों में से अभी तक बहुत कम के शुद्ध आदर्श संस्करण निकल सके हैं। नई पुस्तकों की खोज का काम अधूरा ही पड़ा है। जो साहित्य बन रहा है उसमें जनता से पूर्ण सहायता नहीं मिल रही है। किंतु यह विषय इस निबंध के क्षेत्र से बाहर का है।

भारतवर्ष के भिन्न-भिन्न प्रदेशों में हिंदी प्रचार का क्या रूप रहना चाहिए तथा उसके क्या उपाय हैं, इनका यहाँ दिग्दर्शन कराने का यत्न किया गया है। हमें हिंदी-भाषी प्रदेशों की हिंदी की अवस्था पर विशेष ध्यान देना चाहिए। सबसे प्रथम संयुक्त प्रांत में हिंदी-उर्दू के प्रश्न को—विशेषतया पश्चिमी भाग के हिंदुओं के बीच में—सुलझाने का यत्न होना चाहिए। यह प्रश्न हिंदी की भावी स्थिति के लिये अत्यंत महत्व का है, किंतु इस ओर अभी तक थोड़ा भी ध्यान नहीं दिया गया है। दूसरा काम इन प्रांतों की सार्वजनिक संस्थाओं जैसे दफ़्तर, कचहरी, शिक्षणालयों आदि में हिंदी को पूर्ण स्वत्व दिलाना है। इसमें हमें अंग्रेज़ी और उर्दू दोनों से टक्कर लेनी पड़ेगी। तीसरा मुख्य कार्य उस्मानिया यूनीवर्सिटी की जोड़ का एक हिंदी विश्वविद्यालय स्थापित करना है। पहले अपना घर ठीक हो जाने पर फिर हमें बाहर की चिंता करनी चाहिए।

७—हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने का मोह

"मियाँ जी क्यों दुबले, शहर के अंदेशे से"—यह कहावत हिंदी-भाषियों पर अक्षरशः घटित होती है। किसी भी जानकार हिंदी-भाषी से हिंदीभाषा के संबंध में बातचीत करके देखिए, वह दूसरे ही वाक्य में हिंदी के राष्ट्रभाषा-संबंधी महत्त्व की चर्चा किए बिना नहीं रहेगा। हिंदी के राष्ट्रभाषा होने की धुन उसके मस्तिष्क में ऐसी समा गई है कि हिंदी के संबंध में प्रत्येक अन्य समस्या उसे गौण मालूम होती है। यह रोग केवल व्यक्तियों तक ही सीमित नहीं है, हिंदी-भाषियों की संस्थाएँ भी इससे मुक्त नहीं हैं। कुछ संस्थाओं ने तो हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाना अपना चरम ध्येय बना रक्खा है।

कहने का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा अर्थात् अंतर्प्रांतीय भाषा की समस्या कम महत्त्वपूर्ण है अथवा उसके संबंध में उद्योग ही नहीं होना चाहिए। मतभेद केवल यह है कि इस समस्या को हम हिंदी-भाषी अपने भाषा तथा साहित्य-संबंधी उद्योगों में कौन स्थान दें—प्रथम या द्वितीय। सच तो यह कि हमारी अवस्था उस कंगाल की-सी हो रही है जिसके घर में बच्चे भूखों मर रहे हों, झोपड़ी टूटी-फूटी पड़ी हो, घर का बचा-खुचा सामान पड़ोसी लिये जा रहे हों और वह समस्त नगर के बच्चों, घरों और सड़कों की उन्नति में तन्मय होकर मारा-मारा फिर रहा हो। अपना घर ठीक कर लेने के उपरांत—अथवा उसके साथ-साथ भी—पड़ोस, नगर अथवा देश की चिंता करना मनुष्य के मनुष्यत्व की निशानी है।

वास्तव में हिंदी को राष्ट्रभाषा बनाने के मोह ने हम हिंदी-भाषियों को अपनी समस्याओं के प्रति अंधा कर दिया है। हमें आसाम, सिंध और लंका में हिंदी का प्रचार करने की धुन तो है, किंतु स्वयं हिंदी-प्रांतों में हिंदी की क्या अवस्था है, इस ओर हमारा ध्यान ही नहीं जाता। हमारी संस्थाएँ, हमारी पत्र-पत्रिकाएँ, हमारे नेता—हिंदी-भाषियों की समस्त अन्य संस्थाओं के समान उनकी नेताओं की संस्था भी अखिल भारतवर्षीय है—इस संबंध में कभी विचार ही नहीं करते। दिल्ली के अतिरिक्त पच्छिमी संयुक्त प्रांत की मेरठ, आगरा और रोहिलखंड की कमिश्नरियों में हिंदी तथा देवनागरी लिपि

को अभी तक वह स्वाभाविक स्थान नहीं प्राप्त हो सका है जो होना चाहिए, जयपुर तथा कई अन्य हिंदी-भाषी राज्यों में आज भी हिंदी राजभाषा नहीं है और न देवनागरी राजलिपि ही है। मिथिला तथा मारवाड़ के सीमा-प्रदेशों में हिंदी के प्रति विरोध की भावना धीरे-धीरे जाग्रत हो रही है, यह क्यों—इस प्रकार की सैकड़ों ऐसी समस्याएँ हैं जिन्हें सुलझाना हम हिंदी-भाषियों का प्रथम कर्तव्य होना चाहिए था। किंतु हमें अपनी समस्याओं की प्रायः जानकारी ही नहीं है। हिंदी का प्रचार अहिंदी भारत में कहाँ-कहाँ हो रहा है और वहाँ कितने सहस्र वकील और व्यापारी हिंदी की पहली और दूसरी पोथी पढ़ चुके हैं, ये संख्याएँ हमें कंठस्थ हैं।

भारतवर्ष के प्रत्येक अन्य भाषाभाषी प्रदेश की पढ़ी-लिखी जनता अपनी प्रादेशिक भाषा तथा साहित्य की उन्नति में लगी हुई है। टैगोर बँगला-साहित्य को अमर करने में संलग्न हुए, महात्मा जी ने आत्मकथा अपनी मातृ-भाषा गुजराती में लिख कर गुजराती-भाषा को स्थायी भेंट अर्पण की है, महाराष्ट्र के विद्वान् मराठी-साहित्य और इतिहास की खोज में जी-जान से जुटे हैं और अपनी खोज के परिणामों को मराठी में प्रकाशित करके अपनी मातृभाषा का गौरव बढ़ा रहे हैं। और गुमनाम हिंदी-भाषी ? उनके एक प्रतिनिधि नेता पंडित नेहरू जी ने अपनी आत्मकथा अंगरेज़ी में लिखी और उसके उर्दू-अनुवाद को आदर्श हिंदुस्तानी अतः आदर्श हिंदी सिद्ध करने में हमारे आलोचक-गण व्यस्त हैं। हमारे अधिकांश नेताओं को तो अखिल भारत-वर्षीय तथा सार्वभौम समस्याओं से इतनी भी फ़ुरसत नहीं मिल पाती कि वे क़लम उठाकर अपनी मातृभाषा में क्या, किसी भी भाषा में कुछ लिखें-पढ़ें। इस संबंध में नाम गिनाना व्यर्थ होगा, क्योंकि प्रांत के अग्रगण्य विचारकों में लगभग समस्त प्रथम तथा द्वितीय श्रेणी के नाम इस वर्ग में रक्खे जा सकते हैं। जिनकी मातृभाषा हिंदी समझी जाती है, यदि वे ही हिंदी-भाषा और साहित्य की अभिवृद्धि में हाथ नहीं लगावेंगे तो क्या बंगाली गल्पलेखक, मराठा इतिहासज्ञ, आंध्र वैज्ञानिक, तामिल राजनीतिक तथा सिंहाली समाज-शास्त्रविज्ञ विद्वानों से यह आशा की जा सकती है कि वे हिंदी-साहित्य के भंडार को भरेंगे ? उन्हें हिंदी-भाषा और साहित्य के संबंध में न वैसी चिंता ही हो सकती है और न वैसी योग्यता ही उनमें आ सकती है। राष्ट्रभाषा-परीक्षा देने के बाद किसी अंतर्प्रांतीय कमेटी में बैठ कर 'हिंदी-हिंदुस्तानी'

अथवा 'चालू हिंदी' में बोलने की योग्यता प्राप्त कर सकना एक बात है और मातृभाषा से इतर भाषा में स्थायी सामग्री उपस्थित करना दूसरी बात है।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आख़िर हम हिंदी-भाषियों की इस राष्ट्र-भाषा-समस्या के संबंध में क्या निश्चित नीति होनी चाहिए। इसका उत्तर स्पष्ट है। भारत की राष्ट्रभाषा अर्थात् अंतर्प्रांतीय भाषा की समस्या समस्त प्रांतों से संबंध रखनेवाली समस्या है। वास्तव में तो इस समस्या का संबंध अन्य प्रांतों से अधिक है और हम हिंदी-भाषियों से कुछ कम ही है। एक बंगाली और एक गुजराती एक दूसरे की बोली बिलकुल ही नहीं समझ पाते—हमारी बोली तो थोड़ी-थोड़ी दोनों ही समझ लेते हैं। ऐसी परिस्थिति में इस समस्या को सुलझाने का उद्योग अन्य प्रांतवालों को ही करने देना चाहिए। हम हिंदी-भाषियों के इस आंदोलन में अग्रभाग लेने से एक यह भ्रम भी फैल रहा है कि मानों इसमें हमारा कुछ अपना स्वार्थ है। यहाँ तक कि हिंदी के संबंध में अन्य प्रांतों में कहीं-कहीं विरोध के लक्षण तक दिखलाई पड़ने लगे हैं। यदि कोई प्रांत स्वयं हमारी सहायता चाहे तो, अपनी भाषा और साहित्य से अवकाश मिलने पर, हमें प्रसन्नता-पूर्वक भरसक सहायता दे देनी चाहिए।

किंतु यह तभी हो सकता है जब हिंदी-भाषी अपनी भाषा और साहित्य की समस्याओं को ठीक-ठीक समझते हों और अपनी भाषा की आवश्यकताओं की ओर उनका ध्यान हो। अभी तो पढ़ा-लिखा हिंदी-भाषी भी प्रायः इस भ्रम में है या डाल दिया गया है कि एक न एक दिन हिंदी समस्त भारतवर्ष की साहित्यिक भाषा हो जायगी, अर्थात् भविष्य के टैगोर, लोकमान्य, रमन तथा गांधी हिंदी में ही अपनी समस्त मौलिक रचनाएँ लिखेंगे और समस्त प्रांतीय भाषाएँ कदाचित् अवधी, बुंदेलखंडी, गढ़वाली आदि हिंदी की बोलियों की तरह रह जायँगी। पहली बात तो यह है कि ऐसा स्वप्न असंभव है और यदि यह असंभव संभव भी हो जाय तो वास्तव में यह भारतवर्ष के लिये दुर्दिन होगा। अन्य भाषाभाषी लोग हिंदी की तो अधिक से अधिक उतनी ही सेवा कर सकेंगे, जितनी सुश्री सरोजिनी नायडू अथवा पंडित जवाहर नेहरू अपनी अंग्रेजी कृतियों के द्वारा इंग्लैंड के साहित्य की सेवा कर सके हैं। हाँ, अपनी-अपनी मातृभाषा के कोष को छूंछा करने में वे अवश्य सहायक होंगे। तुलसीदास का हिंदी में, नानक का पंजाबी में,

तुकाराम का मराठी में, नरसी मेहता का गुजराती में, चंडीदास का बंगाली में अपना हृदय निकाल कर रखना बिलकुल स्वाभाविक था। वास्तव में इस परिस्थिति की रक्षा होनी चाहिए। अंग्रेज़ी के हटने पर एक नई अस्वाभाविक परिस्थिति के लिये प्रयत्नशील होना देश का अहित करना होगा। भारत की राष्ट्रभाषा अर्थात् अंतर्प्रांतीय भाषा में किसी भी अन्य भाषाभाषी का कोई भी स्थाई कृति छोड़ जाना सदा अपवाद-स्वरूप रहेगा। देश की एक निश्चित राष्ट्रभाषा बनाने का तात्पर्य इस महाद्वीप के राजनीति तथा व्यवसाय आदि संबंधी व्यावहारिक कार्यों के माध्यम को निश्चित करना मात्र है। मौलिक साहित्य तथा संस्कृति के क्षेत्र में प्रत्येक प्रदेश की अपनी-अपनी भाषा रहेगी और रहनी चाहिए।

हिंदी राष्ट्रभाषा हो या न हो—उर्दू के मुक़ाबिले में इसके राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत हो सकने की बहुत कम संभावना है—किंतु वह १०-१२ करोड़ हिंदी-भाषियों की अपनी एकमात्र साहित्यिक भाषा तो है ही, और सदा रहेगी। इस ध्रुवसत्य की ओर से आँख मीचकर मृगतृष्णा के पीछे भटकना कहाँ तक उचित है ? १०-१२ करोड़ प्राणियों की साहित्यिक भाषा को नष्ट-भ्रष्ट किए बिना राष्ट्रभाषा समस्या को सुलझाने में अन्य प्रांतों का हाथ बँटाने के लिये हम हिंदी-भाषियों को सदा उद्यत रहना चाहिए। सब कुछ होने पर भी राष्ट्र-भाषा-समस्या अधिक से अधिक चंद लाख लोगों के बाह्य व्यवहार की समस्या है, किंतु मातृभाषा हिंदी की समस्या करोड़ों के हृदय और मस्तिष्क से संबंध रखने वाली समस्या है। हमें राष्ट्रभाषा का कोई भी रूप और कोई भी लिपि स्वीकृत कर लेनी चाहिए, केवल एक शर्त पर कि हिंदी हिंदियों के लिये छोड़ दी जाय। कोई पागल आत्मघात कर ले, इसका तो कोई इलाज नहीं और न इसकी कोई शिकायत ही हो सकती है।

८—राष्ट्रभाषा बनने का मूल्य

हिंदी को भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा मानने के पूर्व अन्य भाषा-भाषी लोग हिंदी में कुछ परिवर्तन चाहते हैं। प्रत्येक भाषा-भाषी प्रदेश की माँग भिन्न है।

उदाहरण के लिए हिंदी का लिंग-भेद बंगालियों को कष्ट देता है क्योंकि बंगाली भाषा में व्याकरण संबंधी लिंग-भेद की परिस्थिति हिंदी से भिन्न है। अतः उनका कहना है कि हिंदी-भाषा से भी लिंग-भेद की यह बारीकी हटा दी जाय। बंगाली के सुप्रसिद्ध विद्वान् डा० सुनीतिकुमार चैटर्जी ने हिंदी व्याकरण संबंधी कुछ अन्य आयोजनाएँ भी उपस्थित की हैं। उनके तर्क का सार यह है कि परिश्रम किए बिना बंगाली बाबू जैसी हिंदी बोल लेता है— "हम बोला कि हाथी जाती है"—वैसी ही 'चालू हिंदी' राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत होनी चाहिए। लिपि के संबंध में तो बंगालियों का हठ है कि रोमन लिपि को राष्ट्र-लिपि बना लेना चाहिए। सच तो यह है कि बंगाली भाषा के अतिरिक्त किसी भी भारतीय भाषा तथा लिपि को सीखने में बंगाली अपनी भाषा और लिपि की मानहानि समझते हैं। उनकी विचार-शैली कुछ इस प्रकार है कि अंतर्राष्ट्रीय तथा अंतर्प्रांतीय कार्य के लिए वे अंग्रेज़ी भाषा और रोमन लिपि सीख चुके हैं। अतः नये सिरे से एक अन्य भारतीय भाषा और लिपि क्यों सीखी जाय, विशेषतया जब कि वह भाषा उनकी समझ में उनकी अपनी भाषा से हेटी है। यदि ऐसी भाषा उन्हें सीखनी ही पड़े तो उसका रूप ऐसा हो जाना चाहिए जो उनकी अपनी भाषा के निकट हो जिससे उन्हें उसके सीखने में विशेष कष्ट न उठाना पड़े।

उर्दू के जानकारों की—चाहे वे हिंदू हों या मुसलमान—राष्ट्रभाषा के संबंध में माँग भिन्न है। हिंदी तथा अन्य समस्त भारतीय आर्य भाषाओं की जननी संस्कृत के तत्सम शब्द उनके कानों में बहुत खटकते हैं। इसका कारण इतिहास से संबंध रखता है। मुसलमान काल में भारत की राजभाषा फ़ारसी हो गई थी, जिस तरह अंग्रेज़ी राज्य में हमने राज-भाषा के रूप में अंग्रेज़ी सीखी। मुगल साम्राज्य के क्षीण होने पर उत्तर-भारत के पढ़े-लिखे लोगों में फ़ारसी-अरबी शब्द-समूह से मिश्रित खड़ी बोली हिंदी की एक शैली प्रचलित

हो गई थी, जिस तरह आजकल अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे कालेज के विद्यार्थियों तथा बाबू लोगों की आपस की बातचीत की अंग्रेज़ी-मिश्रित हिंदी होती है। "इस Sunday को मैं Market से एक pair socks लाऊँगा" तथा इनसान का फ़र्ज है कि वह मजलूमों के साथ मेहरबानी से पेश आवे" —ये दोनों वाक्य समान परिस्थितियों के फल हैं। अंतर केवल इतना है कि मुसलमानों के भारत में बस जाने के कारण फ़ारसी-अरबी मिश्रित हिंदी में, अर्थात् रेख़्ता या उर्दू में, बाद को साहित्य भी लिखा गया, किंतु पहली भाषा अभी होस्टेल-हिंदी ही है। कभी-कभी हिंदी के अप-टू-डेट उपन्यासों और नाटकों में तथा नई स्कूली किताबों में इस भाषा का प्रयोग कुछ दिनों से अवश्य दिखाई पड़ने लगा है।

हाँ, तो फ़ारसी के बाद उर्दू धीरे-धीरे राजभाषा बन गई तथा साथ ही उत्तर-भारत के नागरिक मुसलमानों और उनके संपर्क में आने वाले हिंदुओं की साहित्यिक भाषा भी हो गई। आज भी उर्दू कई प्रांतों में तथा कुछ हिंदू राज्यों तक में राजभाषा का पद प्राप्त किए हुए है और उत्तर-भारत के शिष्ट नागरिकों के आपस के बोलचाल की भाषा भी यही समझी जाती है। अतः यह स्वाभाविक है कि उर्दू के जानकारों को उनकी चिर-परिचित खड़ी-बोली शैली में प्रयुक्त संस्कृत-शब्दावली बहुत खटकती है। इस कठिनाई का मुख्य कारण यह है कि साधारणतया उर्दूदाँ 'भाखा' तथा 'नागरी' से बिलकुल ही अपरिचित हैं—'संस्कीरत' का ज्ञान तो दूर की बात है। परंतु उपर्युक्त विशेष राजनीतिक परिस्थिति के कारण हिंदी जाननेवाला प्रायः थोड़ी बहुत उर्दू—कुछ नहीं तो साधारण बातचीत वाली उर्दू—जानता है। अतः जब कभी उर्दू और हिंदी जाननेवाले एक जगह एकत्र होते हैं तो उर्दू-दाँ तो उर्दू बोलता ही है, हिंदी का प्रतिनिधि भी उर्दू वर्ग को अपनी बात समझाने के उद्देश्य से, तथा कुछ रोब में आ जाने के कारण उर्दू में बोलने का प्रयत्न करने लगता है। यह परिस्थिति केवल व्यक्तियों की बात-चीत तक ही सीमित नहीं है बल्कि हिंदी-प्रांतों की संस्थाओं सभाओं तथा काउंसिलों आदि तक में यही नित्य-प्रति हो रहा है। फलतः, उर्दू का जानकार तुरंत यह तर्क पेश करता है कि "आप जिस ज़बान में मुझ से गुफ़्तगू कर रहे थे वह तो मैं समझ लेता हूँ, लेकिन जब आप 'संस्कीरत' बोलने लगते हैं तब वह मेरी समझ में क़तई नहीं आती।" इसी उर्दू वर्ग

को संतुष्ट करने के लिये देश के राजनीतिक नेताओं को अब राष्ट्रभाषा के लिये हिंदी के स्थान पर 'हिंदी-हिंदुस्तानी' अथवा केवल 'हिंदुस्तानी' नाम प्रयुक्त करना पड़ रहा है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है बल्कि भाषा शैली की है। 'हिंदी-हिंदुस्तानी' या 'हिंदुस्तानी' कम कठिन उर्दू का दूसरा नाम है। हिंदी वर्ग को तसल्ली के लिये उर्दू के स्थान पर यह नाम इसे दिया जा रहा है। मतलब यह है कि हिंदी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकृत करने का मूल्य उर्दू-दाँ हिंदी से भारतीय शब्दों के यथासंभव पूर्ण बहिष्कार के रूप में माँगते हैं या दूसरे शब्दों में शब्द-समूह की दृष्टि से हिंदी-शैली के स्थान पर वे उर्दू-शैली को चलवाना चाहते हैं।

इधर गुजराती भाइयों की ओर से देवनागरी लिपि के सुधार की आयोजनाएँ आ रही हैं। शिरोरेखा-विहीन गुजराती लिपि की अभ्यस्त आँखों को देवनागरी लिपि की ऊपर की आड़ी लकीर असुंदर और अनावश्यक मालूम होती है। अतः उसे दूर करने के अनेक प्रस्तावों पर आज-कल विचार हो रहा है। इसके अतिरिक्त देवनागरी के कई अक्षरों के स्थान पर बंबइया मराठी अक्षर प्रचलित करने के प्रस्ताव भी साथ-साथ चल रहे हैं।

इस प्रकार हम यह पाते हैं कि हिंदी को राष्ट्रभाषा मानने के पूर्व लगभग प्रत्येक भाषाभाषी प्रदेश की कुछ न कुछ माँगें हैं। सबसे विचित्र बात तो यह है कि हिंदी-भाषियों के प्रतिनिधि, जो प्रायः राजनीतिक नेता हैं—ऐसी समस्त माँगों को स्वीकृत कर लेने को उद्यत हैं, बिना यह सोचे हुए कि १०, १२ करोड़ हिंदी भाषियों को भी इन सुधारों में से किन्हीं की आवश्यकता है या नहीं। चंद लाख लोगों के कल्पित हित के लिये सैकड़ों वर्षों की भाषा और लिपि संबंधी परंपरा को तिलांजलि देने में इन्हें संकोच नहीं है, विशेषतया जब कि यह परंपरा ऐसी है जो करोड़ों व्यक्तियों के नित्यप्रति के जीवन का अंग हो गई है। यह भी सोचने की बात है कि प्रत्येक भाषा-भाषी प्रदेश की माँग के अनुसार परिवर्त्तित यह राष्ट्रभाषा हिंदी क्या एक विचित्र जंतु के समान नहीं हो जायगी? इसके अतिरिक्त लखनऊ के हिंदू-मुसलिम पैक्ट के समान यदि एक बार यह सिलसिला शुरू हुआ तो फिर इसका अंत भी हो सकेगा? फिर भाषा के साथ इस प्रकार का खिलवाड़ कहाँ तक किया जा सकता है, यह भी विचारणीय विषय है।

बात वास्तव में विचित्र है। लाखों भारतीयों ने—जिनमें बंगाली, गुजराती,

मराठा, मद्रासी आदि सभी शामिल हैं—सात समुद्र पार की एक विदेशी भाषा अंग्रेज़ी सीख ली किंतु किसी भी प्रदेश से एक भी प्रस्ताव पेश नहीं किया गया कि हम अंग्रेज़ी तब सीखेंगे जब अंग्रेज़ी शब्द-विन्यास, व्याकरण अथवा लिपि में अमुक-अमुक परिवर्तन कर दिए जायँ। यह सभी जानते हैं कि अंग्रेज़ी भाषा के प्रत्येक अंग तर्क से बहुत दूर हैं। किंतु अंग्रेज़ी अपने अक्षुण्ण रूप में भारत क्या संसार की अंतर्राष्ट्रीय भाषा हो रही है और करोड़ों अन्य भाषा-भाषी उसे लगभग ठीक-ठीक सीख लेते हैं। एक दूसरा उदाहरण लीजिए। यूरोप महाद्वीप की प्रधान भाषा फ्रांसीसी है। फ्रांसीसी में हिंदी के समान तीन लिंग होते हैं और परिणाम-स्वरूप जिस तरह हिंदी में 'मेरा टोप' और 'मेरी कुर्सी' कहा जाता है, ठीक उसी तरह फ्रांसीसी में mon chapeau और ma chaise कहना पड़ता है। फ्रांसीसी लोग इस व्याकरण संबंधी लिंग-भेद को अपनी भाषा की एक बारीकी समझते हैं और उन्हें इस बात का गर्व है। कोई भी फ्रांसीसी इस बात को स्वप्न में भी नहीं सोच सकता कि उसकी भाषा में इस संबंध में कोई लौट-पौट किया जा सकता है और न आज तक लाखों अंग्रेज़, जर्मन, इटैलियन, तुर्क, ईरानी तथा जापानी आदि फ्रांसीसी भाषा के सीखनेवालों की हिम्मत पड़ सकी कि वे यूरोप की इस अंतर्राष्ट्रीय भाषा में हस्तक्षेप करें। किंतु हिंदी तो अनाथों या सार्वभौम दृष्टिकोण रखने वालों की भाषा है। अतः, उस पर तो वह प्रसिद्ध कहावत चरितार्थ होती है कि "निर्बल की जोय सारे गाँव की सरहज।"

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि तब फिर आख़िर किया क्या जाय। इसका उत्तर कठिन नहीं है। हम हिंदी-भाषियों को यह स्पष्ट शब्दों में कह देना चाहिए कि हिंदी जैसी है उसी रूप में वह यदि राष्ट्रभाषा अर्थात् भारत की अंतर्प्रांतीय भाषा हो सके तो ठीक है नहीं तो बेहतर यह होगा कि हमारी भाषा को ज्यों का त्यों छोड़ दिया जाय और कोई अन्य भाषा राष्ट्रभाषा बना ली जाय अथवा राष्ट्रभाषा हिंदी को हिंदी से भिन्न मान लिया जाय। यह बात तो समझ में आ सकती है कि अन्य भाषा-भाषी जब तब हिंदी को भली प्रकार न सीख सकें तब तक उनके ग़लत बोलने या लिखने पर हिंदी भाषी न हँसे—अन्य भाषा-भाषी ने टूटे-फूटे रूप में भी एक अन्य भाषा सीख ली यही क्या कम है—किंतु इन अशुद्ध भाषा बोलनेवालों का यह कहना

कि हम हिंदी-भाषी उन्हीं के समान अशुद्ध भाषा बोलने लगें और अपने बच्चों को भी उसे सिखलावें यह ऐसी माँग है जिसे कोई भी हिंदी-प्रेमी स्वीकार नहीं कर सकता।

हिंदी-भाषियों को गंभीरतापूर्वक विचार करके यह निर्णय कर लेना चाहिए कि १०, १२ करोड़ की साहित्यिक भाषा हिंदी के राष्ट्रभाषा, अर्थात् चंद लाख लोगों की अंतर्प्रांतीय भाषा, बनने का वे क्या इतना मूल्य देने को उद्यत हैं? आवश्यकता पड़ने पर अपनी मातृ-भाषा तथा लिपि में उचित सुधार करना भिन्न बात है क्योंकि ऐसे सुधारों का दृष्टि-कोण तथा उनकी सीमा भिन्न होगी।

ग—हिंदी-साहित्य

१—सूरसागर और भागवत

लोगों की प्रायः यह धारणा है कि सूरसागर भागवत का यदि अनुवाद नहीं है तो स्वतंत्र उल्था अवश्य है। दोनों ग्रंथों की साधारण तुलना से इस विचार की पुष्टि भी होती है। भागवत और सूरसागर दोनों ही में बारह स्कंध हैं तथा भिन्न-भिन्न स्कंधों की कथा में भी पूर्ण साम्य है। उदाहरण के लिये दोनों ग्रंथों में नवम स्कंध में रामावतार का वर्णन है तथा दशम स्कंध में कृष्णावतार का। इसी प्रकार अन्य स्कंधों के कथानक में भी समानता मिलती है। फिर इस पक्ष की पुष्टि में सबसे बड़ा तर्क यह दिया जा सकता है कि स्वयं सूरदास ने इस बात का अपने ग्रंथ में उल्लेख किया है:—

श्री मुख चारि श्लोक दिये, ब्रह्मा को समुझाइ।
ब्रह्मा नारद सों कहे, नारद व्यास सुनाइ॥
व्यास कहे शुकदेव सों, द्वादश कंध बनाइ।
सूरदास सोई कहै पद भाषा करि गाइ॥ स्कंध १, ११३।

इस प्रकार के वाह्य साम्य तथा अंतर्साक्ष्य के रहते हुए भी यदि सूरसागर तथा भागवत का विवेचन सूक्ष्म तुलनात्मक दृष्टि से किया जाय तो दोनों में समानताओं की अपेक्षा विभिन्नताओं की मात्रा अधिक दिखलाई पड़ती है।

संक्षेप में भागवत का मुख्य विषय भगवान विष्णु के चौबीस अवतारों तथा उनके द्वारा भगवान की अपरिमित शक्ति का वर्णन करना है। भागवत के प्रथम दो स्कंध भूमिका-स्वरूप हैं। महाभारत की कथा का अंतिम अंश संक्षेप में देने के बाद परीक्षित ने किस प्रकार भागवत की कथा को शुकदेव से सुना इसका विस्तार, ग्रंथ के लक्षण आदि सहित, आदि के दो स्कंधों में मिलता है। तीसरे स्कंध से अवतारों का विवेचन प्रारंभ होता है और आठवें स्कंध तक शूकर, ऋषभदेव, नृसिंह, वामन, मत्स्य आदि गौण अवतारों का वर्णन दिया गया है। जैसा ऊपर उल्लेख किया जा चुका है नवम स्कंध में राम तथा दशम स्कंध में कृष्ण-अवतार का विस्तृत वर्णन है। एकादश और द्वादश स्कंधों में हंस तथा भविष्य में होने वाले कल्कि अवतार का उल्लेख करते हुए परीक्षित और शुकदेव से संबंध रखने वाली मूल कथा का उपसंहार किया गया है।

भागवत तथा सूरसागर में वर्णित अवतारों की सूची तथा क्रम आदि में कोई भारी भेद नहीं है। कुछ गौण अंतर अवश्य हैं। किंतु सब से पहला बड़ा भेद भगवान के भिन्न-भिन्न अवतारों के महत्व के संबंध में है। भागवत में कृष्ण तथा राम-अवतार प्रमुख अवश्य है और इन दोनों में भी कृष्ण-अवतार सर्वोपरि है—उसका विस्तार भी सबसे अधिक दिया गया है—किंतु अन्य अवतारों की बिलकुल उपेक्षा नहीं की गई है। सूरसागर में कृष्ण-अवतार ही सब कुछ है। राम-अवतार के अतिरिक्त अन्य अवतारों का उल्लेख नाम-मात्र के लिये किया गया है। यह भेद नीचे दी हुई तालिका से स्पष्ट हो जावेगा :—

भागवत			सूरसागर	
स्कंध	अध्याय-संख्या		स्कंध	पद-संख्या
१	१६		१	२१६
२	१०		२	३८
३	३३		३	१८
४	३१		४	१२
५	२६		५	४
६	१६		६	४
७	१५		७	८
८	२४		८	१४
९	२४		९	१७२
१० पूर्वार्द्ध	४९	९०	१० पूर्वार्द्ध	३४९४
उत्तरार्द्ध	४१		उत्तरार्द्ध	१३८
११	३१		११	६
१२	१३		१२	५
	३३५			४०३२

अर्थात् भागवत में ३३५ अध्यायों में से ९० अध्याय कृष्ण-अवतार से संबंध रखने वाले हैं और सूरसागर में लगभग ४००० पदों में से ३६०० से अधिक पदों में कृष्ण-चरित्र का वर्णन है तथा शेष ४०० पदों में विनय आदि साधारण विषयों के अतिरिक्त शेष ३२ अवतारों का उल्लेख है।

ऊपर की तालिका पर ध्यान देने से एक अन्य अंतर भी स्पष्ट दिखलाई

पड़ता है। भागवत तथा सूरसागर दोनों ही में दशम स्कंध दो भागों में विभक्त है—पूर्वार्द्ध तथा उत्तरार्द्ध। दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में तब तक का कृष्ण-चरित्र मिलता है जब तक कृष्ण ब्रज अर्थात् गोकुल, वृंदावन तथा मथुरा में थे। दशम स्कंध उत्तरार्द्ध में कृष्ण के मथुरा छोड़ कर द्वारिका जाकर बसने तथा उसके बाद की घटनाओं का वर्णन है। भागवत में कृष्णचरित्र पूर्वार्द्ध की कथा ९० में से ४९ अध्यायों में तथा उत्तरार्द्ध की कथा ४१ अध्यायों में दी गई है, किंतु सूरसागर में पूर्वार्द्ध की कथा लगभग ३५०० पदों में तथा उत्तरार्द्ध की कथा केवल १३८ पदों में मिलती है। इसका तात्पर्य यह है कि कृष्णचरित्र में से भी केवल ब्रजवासी कृष्ण सूरदास के लिये सब कुछ थे द्वारिकावासी राजनीतिज्ञ तथा योगिराज कृष्ण सूरसागर के रचयिता के लिये कुछ भी महत्व नहीं रखते थे।

इस तरह सूरसागर का प्राण दशम स्कंध पूर्वार्द्ध अर्थात् ब्रजवासी कृष्ण का चरित्र-चित्रण मात्र रह जाता है, किंतु यह चित्रण भी भागवत के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के चित्रण से बहुत भिन्न है। भागवत में पूतना, तथा वत्स, प्रलंब आदि असुरों के संहार से संबंध रखने वाली अलौकिक लीलाओं के विस्तृत वर्णनों द्वारा भगवान् की असुर-संहारिणी शक्ति को सामने लाकर उपस्थित किया गया है। सूरसागर में इन बाल-लीलाओं का बहुत संक्षेप में उल्लेख-मात्र मिलता है, और भगवान् की बाल्यावस्था तथा किशोरावस्था का आकर्षक सुंदर रूप तथा उनकी राधा तथा गोपियों से संबंध रखने वाली प्रेमलीलाएँ पूर्ण विस्तार के साथ दी गई हैं। सूरसागर के इस मौलिक पद-समूह का वर्गीकरण प्रायः तीन शीर्षकों में किया जाता है—(१) वात्सल्य-रस-प्रधान अंश या बाललीला, (२) संयोग-शृंगार-प्रधान अंश अथवा राधाकृष्ण या गोपी-कृष्णलीला, तथा (३) विप्रलंभ-शृंगार-प्रधान अंश अथवा गोपिका-विरह या भ्रमरगीत।

यहाँ यह स्मरण दिला देना आवश्यक है कि भागवत में इन विषयों का विवेचन या तो विशेष मिलता ही नहीं है और यदि मिलता भी है तो बहुत संक्षेप में और भिन्न दृष्टिकोण के साथ। कृष्ण की बाललीला भागवत में केवल दो-तीन पृष्ठों में दी गई है, सूरसागर में यही बहुत विस्तार के साथ लगभग तीस पृष्ठों में मिलती है। सूरसागर में अन्नप्रासन, बरष-गाँठ, पाँव चलना, चाँद के लिये मचलना आदि अपने समाज के प्रत्येक बालक

की बाल्यावस्था से संबंध रखने वाले अनेक नए विषयों का समावेश किया गया है; तथा मिट्टी खाना, माखनचोरी आदि भागवत में पाए जाने वाले विषयों का विशेष मौलिक विस्तार मिलता है। प्रेमलीला के संबंध में भागवत में केवल कृष्ण और गोपियों के प्रेम का वर्णन मिलता है। राधा का नाम भी भागवत में नहीं आया है। सूरसागर में राधा-कृष्ण के प्रेम का आरंभ, विकास तथा परिणाम बहुत ही सुंदर ढंग से तथा पूर्ण विस्तार के साथ वर्णित है। उद्धव-संदेश की कथा भागवत में है अवश्य, किंतु बिलकुल नीरस रूप में है। सूरसागर में गोपियों की विरहावस्था का अत्यंत उत्कृष्ट वर्णन है और इसके अतिरिक्त इस कथा का उपयोग निर्गुण उपासना तथा ज्ञान-कर्म-मार्गों की अपेक्षा सगुण उपासना तथा भक्तिमार्ग की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिये किया गया है। इन मौलिक अंशों का विस्तार भी कम नहीं है। सूरसागर के दशम स्कंध पूर्वार्द्ध के अधिकांश का विषय कृष्ण की इस नए दृष्टिकोण से की गई बाल तथा प्रेम-लीलाएँ ही हैं।

अब एक स्वाभाविक प्रश्न यह हो सकता है कि फिर सूरसागर का क्रम भागवत से इतना अधिक मिलता हुआ क्यों है तथा स्वयं सूरदास अपनी कृति को भागवत का 'भाषा' रूप क्यों कहते हैं? सूरसागर का ध्यानपूर्वक अध्ययन करने पर प्रत्येक व्यक्ति इस निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि वर्तमान सूरसागर एक ग्रंथ नहीं है बल्कि सूरदास की प्रायः समस्त कृतियों का संग्रह है। इसका मूल ढाँचा वास्तव में भागवत के बारहों स्कंधों का अत्यंत *संक्षिप्त छन्दोबद्ध अनुवाद* मात्र है। यह वर्णनात्मक अंश काव्य की दृष्टि से अत्यंत असफल है तथा धार्मिक दृष्टि से भी कोई विशेष महत्व नहीं रखना। इसी अंश के कारण यह धोखा होता है कि सूरसागर भागवत का उल्था है, किंतु वास्तव में यह अंश अत्यंत गौण है। भागवत के इस संक्षिप्त छंदोबद्ध अनुवाद में अनेक स्थलों पर कवि की तद्विषयक *मौलिक पदरचना* भी संगृहीत है। ये पदसमूह विशेषतया दशम स्कंध पूर्वार्द्ध में मिलते हैं। ये अंश ही वास्तविक सूरसागर कहे जा सकते हैं। मौलिकता, रसात्मकता तथा धार्मिक विकास की दृष्टि से यह पदसमूह अत्यंत महत्वपूर्ण है। कवि की अन्य फुटकर रचनाएँ भी सूरसागर में अनेक स्थलों पर संगृहीत हैं। किन्हीं-किन्हीं लीलाओं का वर्णन तीन-तीन चार-चार बार मिलता है। उदाहरण के लिये सूरसागर में तीन भ्रमरगीत मिलते हैं—पहला भागवत का उल्था है, दूसरा तद्विषयक

मौलिक पदसमूह तथा तीसरा एक छोटा-सा छंदोबद्ध भ्रमरगीत है, जो छंद आदि की दृष्टि से नंददास-कृत भँवरगीत का पूर्वरूप मालूम पड़ता है।

इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भागवत का आंशिक अनुवाद होने पर भी इस समय सूरसागर नाम से प्रसिद्ध ग्रंथ का अधिक अंश कथानक तथा साहित्यिक और धार्मिक दृष्टिकोण से मौलिक है। इन मौलिक अंशों में प्रथम स्कंध के प्रारंभ में पाए जाने वाले विनय-संबंधी पद भी सम्मिलित किए जा सकते हैं। यह अंश सूरदास की विनयपत्रिका के नाम से भी प्रसिद्ध है। दासभाव की प्रधानता के कारण विनय-संबंधी अधिकांश पद-समूह कदाचित् वल्लभाचार्य के संपर्क में आने से पहले कवि द्वारा लिखा गया हो, यह आश्चर्य नहीं। चौरासी वार्त्ता में इस अंश के कुछ पदों का निर्देश सूरदास तथा वल्लभाचार्य की प्रथम भेंट के अवसर पर किया गया है। इन मुख्य मौलिक अंशों के अतिरिक्त छोटे-छोटे मौलिक पदसमूह ग्रंथ में अनेक स्थलों पर मिलते हैं। विस्तार-भय से इनका उल्लेख यहाँ नहीं किया गया है।

२—हिंदी साहित्य में वीर रस

साहित्य में साधारणतया तीन रसों का प्राधान्य रहता है। शृंगार, वीर तथा शांत। इनमें से भी प्रायः एक ही रस एक समय में सर्वोपरि रहता है। चक्र के समान क्रम से इनका आधिपत्य बदलता रहता है। उपर्युक्त नियम सर्वव्यापी दिखलाई पड़ता हैं। संसार के समस्त साहित्यों में साधारणतया इन तीन मुख्य रसों के परिवर्तन का खेल देखने को मिलता है। हिंदी साहित्य भी इस नियम का अपवाद नहीं है। प्रस्तुत लेख में हिंदी साहित्य में वीर रस की अवस्था पर कुछ विचार प्रकट किए गए हैं।

हिंदी साहित्य में वीर रस की तीन मुख्य अवस्थाएँ दिखलाई पड़ती हैं। हिंदी साहित्य का आरंभ ही वीर-रस-प्रधान चारण काव्यों तथा वीर गाथाओं से हुआ है। अपने साहित्य द्वारा प्राप्त वीर रस के इस प्रथम रूप पर हमें तनिक ध्यानपूर्वक विचार करना चाहिए। आदि काल के चारण-साहित्य में पृथ्वीराजरासो एक मुख्य ग्रंथ है। इसे आद्योपांत पढ़ जाने पर, सच पूछिए तो, इस काल के वीर रस से घृणा होने लगती है। संक्षेप में रासो में दो मुख्य बातों का वर्णन है। प्रथम पृथ्वीराज का पड़ोस के हिंदू राजाओं की सुंदर कन्याओं को छीनने का प्रयत्न तथा इस कारण अपने पड़ोसी हिंदू राजाओं से अगणित युद्ध, दूसरे विवाह कर लेने के बाद विलास-प्रियता तथा तबियत ऊब जाने पर मृगया।

मुहम्मदग़ोरी से पृथ्वीराज का युद्ध गौण विषय है और उसमें भी पाशविक बल तथा व्यक्तिगत हानि लाभ का दृष्टिकोण मुख्य है। रासो के वीर रस में राष्ट्र के हित की झलक कहीं नहीं हैं और न कहीं देश की आत्मा को समुन्नत करने वाले कोई विचार हैं। आल्हखंड भी हिंदू राजाओं की आपस की लड़ाई की एक विस्तृत कथा है। हिंदी साहित्य के आदि काल के वीर रस में न्यूनाधिक यही रूप दिखलाई पड़ता है। संक्षेप में यह वीर रस नीच उद्देश्यों के लिये आपस में लड़ मरने पर ही समाप्त हो जाता है। प्रायः १२०० से १६०० ईसवी के बीच मुसलमान आक्रमणकारियों ने गंगा की घाटी में अपने पैर जमाये थे। किंतु इस काल में हिंदी का एक भी

महाकाव्य नहीं बना, जो हिंदुओं की स्वतंत्रता के लिये आत्मबलि का इतिहास हो। सच तो यह है कि गंगा की घाटी की हिंदू जनता ने अपनी स्वतंत्रता के लिये आत्मबलि की ही नहीं। कुछ हिंदू एक-एक करके अपने राज्यों की रक्षा के लिये अवश्य लड़े थे। इनमें से कुछ तो युद्ध में मारे गए थे और कुछ हार कर अपना राज्य विदेशियों के हाथ में छोड़ कर भाग गए थे। हिंदू राजाओं और मुसलमान आक्रमणकारियों के स्वार्थ से संबंध रखने वाले इन युद्धों का विस्तृत वर्णन भी हमारे आदि काल के साहित्य का मुख्य अंग नहीं है।

वीर रस का दूसरा रूप हमें १६०० ईसवी के पश्चात् मुसलमान राजवंशों के पतन के समय में मिलता है। उस समय कुछ हिंदू नरेशों ने फिर से हिंदू राज्य स्थापित करने का प्रयत्न किया था। इन राजाओं में मुख्य महाराष्ट्र के छत्रपति-शिवाजी थे जिनकी प्रशंसा में भूषण ने बहुत कुछ लिखा है। पंजाब के सिक्ख-उत्थान के संबंध में हिंदी कवियों ने विशेष नहीं लिखा। हिंदी भाषा-भाषी प्रदेश में कोई भी बड़ा हिंदू राजा स्वतंत्रता प्राप्ति के प्रयत्न में सफल नहीं हो सका नहीं तो शायद कुछ अच्छे महाकाव्य लिखे गए होते। राजपूताने में महाराणा प्रताप आदि कुछ नरेश अवश्य अपनी स्वतंत्रता के लिये जब-तब लड़ते रहे। वहाँ के चारणों ने इस संबंध में कुछ लिखा भी है। इस काल का वीर रस भी व्यक्तिगत है। किंतु इसमें इतना परिवर्तन अवश्य हो गया था कि हिंदू नरेशों के आपस में लड़ने के स्थान पर अब हिंदू और मुसलमान नरेशों का युद्ध मुख्य विषय हो गया था। अतः साहित्य में एक प्रकार की हिंदू भावना मिलती है। किंतु इस हिंदुत्व और आज-कल की राष्ट्रीयता में बड़ा अंतर है। देश की स्वतंत्रता की दृष्टि से जनता की आत्मबलि की झलक अब भी देखने को नहीं मिलती। हिंदू राजाओं का एक बार फिर अपने राज्य स्थिर करने का प्रयास अवश्य दिखलाई पड़ता है।

वीर रस की अंतिम किंतु सच्चे रूप की झलक बीसवीं सदी से ही देखने को मिलती है। हिंदू नरेश नहीं, बल्कि भारतीय जनता अब लंबी नींद के पश्चात् करवटें बदल रही है और सदियों की दासता का भास उसे होने लगा है। स्वतंत्रता का वर्तमान आंदोलन जनता का आंदोलन है—न यह राजवंशों से संबद्ध है और न किसी धर्म से ही। स्वतंत्रता के इस राष्ट्रीय युद्ध का अभी

आरंभ ही हुआ है। अतः बड़ी संख्या में आत्मबलि का अवसर ही नहीं आया है। जिस दिन यह महान् युद्ध होगा, चाहे यह देशव्यापी सत्याग्रह आंदोलन के रूप में हो अथवा किसी अन्य रूप में। और जिस दिन भारतवासी व्यक्तिगत राजवंश स्थापित करने के लिये नहीं और न हिंदू मुसलमान या सिक्ख राज्य स्थापित करने के लिये बल्कि भारतवर्ष को स्वतंत्र करने के लिए, हज़ारों-लाखों की संख्या में आत्मबलि करेंगे, उसी दिन भारतीय भाषाओं में सच्चे वीर रस की गाथाएँ लिखी जायँगी। आज-कल की देश से संबंध रखने वाली फुटकर कविताएँ भविष्य में लिखे जाने वाले वीर रस के महाकाव्यों के लिये कवियों के अभ्यास-स्वरूप हैं।

हिंदूपति पृथ्वीराज, छत्रपति शिवाजी, अथवा महाराणा प्रताप की गाथाओं में देशवासियों को सच्चे वीर रस से प्रोत्साहित करने की सामग्री अधिक मात्रा में नहीं मिल सकती। इसके लिये हमें कुछ यूरोपीय देशों के भूतकाल अथवा अपने देश के वर्तमान अथवा भविष्य की ओर देखना पड़ेगा।

३—हिंदी साहित्य का कार्यक्षेत्र

हिंदी के कार्यक्षेत्र में कुछ अराजकता-सी फैली हुई है। हिंदी के संबंध में कितने ढंग के मुख्य-मुख्य काम हैं और उनके लिये कौन व्यक्ति उपयुक्त हैं इस संबंध में बहुत कम विचार किया गया है। फल यह है कि उद्देश्यहीन ढंग से प्रत्येक हिंदी प्रेमी जो भी काम सामने आता है उसे करने लगता है। यह सच है कि प्रत्येक क्षेत्र में कार्य-कर्त्ताओं की कमी के कारण तथा परिस्थिति की कठिनाइयों के कारण भी कार्य-विभाग वैज्ञानिक ढंग से नहीं हो पाता है, किंतु हिंदी कार्यक्षेत्र की वर्तमान अराजकता का मुख्य कारण हिंदी प्रेमियों का इस संबंध में विचार न करना ही विशेष रूप से मालूम पड़ता है।

प्रत्येक साहित्य के क्षेत्र में चार प्रकार के मुख्य कार्य रहते हैं :—

१—साहित्य-रचना।

२—साहित्य अध्यापन।

३—साहित्यिक खोज। तथा

४—साहित्य संबंधी प्रचार और प्रबंध।

हिंदी के कार्यक्षेत्र में भी ये ही चार मुख्य कार्य हैं, किंतु यहाँ कार्य-विभाग के संबंध में कोई क्रम नहीं है। हिंदी के संबंध में किसी भी कार्यक्षेत्र में काम करने वाला अपने को समस्त अन्य कार्यों के योग्य समझता है। हिंदी में कुछ कविताएँ लिख देने से मनुष्य हिंदी साहित्य का मर्मज्ञ समझा जाने लगता है। हिंदी की किसी भी संस्था का प्रबंधकर्ता होने से आदमी हिंदी विद्वान हो जाता है। हिंदी अध्यापक तो कोई भी हिंदी भाषी हो सकता है। किसी हिंदी पत्र के संपादक हो जाने से मनुष्य इस चातुर्वर्ण्य के झगड़े से बिलकुल ही मुक्त हो जाता है और आई० सी० एस० वालों की तरह उसमें समस्त संभव और असंभव बातों के कर डालने की योग्यता अपने आप आ जाती है। इस अराजकता के कारण हिंदी कार्यों की समुन्नति में तरह-तरह की बाधाएँ पड़ रही हैं। अतः प्रत्येक क्षेत्र के कार्य का उत्तरदायित्व क्या है इस पर ध्यान-पूर्वक विचार करना यहाँ अनुचित न होगा।

१—साहित्य-रचना

साहित्य-रचना का कार्य अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रत्येक देश का साहित्य उसके अनुरूप होता है। साथ ही प्रत्येक देश का अभ्युदय उसकी साहित्य की प्रगति पर निर्भर है। अतः मौलिक लेखकों पर बड़ा भारी उत्तरदायित्व होता है।

हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि में जो कुछ भी आज-कल छप रहा है वह विस्तृत अर्थ में हिंदी साहित्य के अंतर्गत है। देश के दुर्भाग्य अथवा सौभाग्य से हमारी उच्च तथा माध्यमिक शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है। इसका फल यह रहा है कि हमारे देशवासी अंग्रेज़ी के माध्यम से शिक्षा प्राप्त करने के बाद उन विषयों पर हिंदी में अपने विचार प्रकट करने के लिये अयोग्य हो जाते हैं। भारतवासियों के द्वारा लिखे गए अंग्रेज़ी उपन्यासों या काव्य-ग्रंथों का अंग्रेज़ी साहित्य में कोई स्थायी स्थान नहीं हो सकता इस बात को समझ कर ही तो श्री रवींद्रनाथ टैगोर ने 'गीतांजलि' तथा अन्य ग्रंथ अपनी मातृभाषा बंगाली में लिखे। माइकेल मधुसूदन दत्त को उनकी अंग्रेज़ी रचनाओं के कारण न कोई भारत में जानता है न यूरोप में, किंतु बंगाली रचनाओं के कारण बंगाली साहित्य में उनका नाम अमर हो गया। महात्मा गांधी ने अपनी जीवनी गुजराती में लिखी है, फिर उसके हिंदी तथा अंग्रेज़ी अनुवाद हुए हैं। लोकमान्य तिलक की सर्वोत्तम कृति 'गीता-रहस्य' मराठी में है।

ऊपर लिखे उदाहरणों से बंगाल, गुजरात तथा महाराष्ट्र के अग्रगण्य विद्वान तथा लेखकों की सच्ची राष्ट्रीय भावना टपकती है। हिंदी-भाषी प्रदेशों में अभी इस प्रकार की भावना जाग्रत् नहीं हो पाई है। यहाँ के अच्छे से अच्छे मस्तिष्क अंग्रेजी पढ़ कर जीविका के लिये अंग्रेज़ी संस्थाओं में नौकरी करके पेट पालने में ही नष्ट हो जाते हैं। शेष दूसरी श्रेणी के लोगों में से जिनकी लगन तथा प्रतिभा हिंदी में रचना करने की ओर होती भी है उनके सामने जीविका की समस्या सदा मुँह खोले खड़ी रहती है। फल यह होता है कि लगन है काव्य लिखने की किंतु लिख रहे हैं उपन्यास; प्रतिभा है मौलिक उपन्यास लिखने की, किंतु समय लगाना पड़ता है प्रूफ़ देखकर पेट के लिये पैसे कमाने में; इच्छा है इतिहास-ग्रंथ लिखने की, लेकिन लिखनी

पड़ती है किसी प्रकाशक के लिये स्कूली किताबें जो कदाचित् लेखक के नाम से भी नहीं छपेंगी।

इस समय जो कुछ थोड़ा बहुत मौलिक रचना का कार्य हो रहा है उसमें से अधिकांश उद्देश्यहीन ढंग से चल रहा है। बहुत बड़ा अंश तो बंगाली अथवा अंग्रेज़ी साहित्य की जुगाली मात्र है। हम यह भूल जाते हैं कि बंगाल की आवश्यकता पूर्ण रूप से हमारी आवश्यकता नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त पौराणिक गाथाओं का आधार अभी भी आँख मीच कर चला जा रहा है। हिंदी लेखकों ने राम का पीछा तो छोड़ दिया है लेकिन कृष्ण बेचारे का पीछा अब भी नहीं छोड़ रहे हैं। फिर यह कृष्ण भी महाभारत के कृष्ण नहीं हैं, न गीता के ही कृष्ण हैं। यह कृष्ण हैं भागवत के गोपीकृष्ण या सूरसागर के राधाकृष्ण। सच पूछिए तो यह व्यर्थ का पिष्टपेषण मात्र है। यदि आधुनिक काल की ओर लेखकगण आते हैं तो वे महाराणा प्रताप, महाराज शिवाजी, अथवा पंजाब केसरी रणजीतसिंह की ओर चले जाते हैं जिनमें से किसी का भी हिंदी जनता से घनिष्ट परिचय अथवा संबंध नहीं है। हम भूल जाते हैं कि पानीपत पर अनेक महाकाव्य लिखे जा सकते हैं। कन्नौज के खँडहरों में अगणित उपन्यासों की कथावस्तुएँ छिपी पड़ी हैं। गंगा की पुण्यस्मृति भारतीय आर्यों की सभ्यता का समस्त इतिहास है। सौभाग्यवश इधर कुछ दिनों से लेखकों का झुकाव धीरे-धीरे इधर हो रहा है। जो लेखक जितना ही अधिक जनता के हृदय की ओर झुकता है उतना ही अधिक वह अपनी कृति में सफल हो जाता है। किंतु जनता के हृदय में प्रवेश करने में अभी बहुत दिन लगेंगे।

२—साहित्य अध्यापन

प्रांत के एक विश्वविद्यालय के एक प्रतिष्ठित हिंदी अध्यापक एक बार मुझसे कह रहे थे कि यद्यपि मेरे सहकारी अध्यापक ऐसे-ऐसे प्रसिद्ध हिंदी के मौलिक रचयिता हैं कि जिनके ग्रंथरत्न बी० ए०, एम० ए० तक पढ़ाये जाते हैं किंतु अध्यापक की दृष्टि से ये लोग पूर्णतया असफल रहे हैं। वह बात बिलकुल सच हो सकती है। अध्यापक और मौलिक रचयिता का क्षेत्र पृथक् है और साधारणतया एक व्यक्ति केवल एक ही क्षेत्र में सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है।

किंतु इस संबंध में हिंदी संसार में बड़ा भारी भ्रम फैला हुआ है। प्रत्येक हिंदी अध्यापक से यह आशा की जाती है कि वह कवि सम्मेलन में अपनी रचना सुनावेगा। साथ ही हिंदी का प्रत्येक कवि, लेखक संपादक या प्रबंधक हिंदी अध्यापक होने के लिये योग्य समझ लिया जाता है। समस्त प्राचीन तथा आधुनिक साहित्य मनन तथा परिशीलन करना और फिर उस अध्ययन के सार को विद्यार्थीवर्ग के संमुख सरस तथा सुबोध ढंग से रखना एक ऐसी कला है जिसमें विज्ञ होने वाले के लिये किसी भी और काम के लिये समय नहीं निकल सकता। यह अवश्य है कि अध्यापक कई श्रेणी के होते हैं। हिंदी मिडिल स्कूल अथवा नार्मल स्कूल के अध्यापक का कार्य तथा विश्व-विद्यालय अथवा विद्यापीठ के अध्यापक के कार्य में कुछ विभिन्नता अवश्य है। किंतु इस पर भी अध्यापक से लेखक तथा कवि होने की आशा करना अथवा सफल कवि में सफल अध्यापक को ढूँढ़ना साधारणतया उचित नहीं है।

अभी कुछ दिनों से हमारी उच्च शिक्षा में हिंदी साहित्य को स्थान मिल सका है, अतः हिंदी अध्यापकों का समूह बनने में अभी कुछ समय अवश्य लगेगा। इस अध्यापकवर्ग में कुछ मौलिक लेखक रहेंगे, किंतु यह नियम नहीं हो सकता। क्योंकि वास्तव में इन दो कार्यों के लिये दो भिन्न प्रकार की प्रतिभाओं की आवश्यकता होती है।

३—साहित्यिक खोज

अध्यापन से अगर किसी अन्य कार्य का संबंध है तो वह साहित्यिक खोज का है। ऊँची कक्षाओं के अध्यापक को अध्यापन के कार्य के लिये विशेष अध्ययन करना पड़ता है। इस अध्ययन द्वारा इकट्ठी की गई सामग्री का उपयोग वह अध्यापन के लिये करता है, किंतु यदि उसका झुकाव खोज की ओर हो तो वह धीरे-धीरे इस कार्यक्षेत्र की ओर भी उतर सकता है। साधारणतया सफल अध्यापक तथा सफल अन्वेषक का एक व्यक्ति में संयोग बहुत ही कम पाया जाता है। यह अवश्य देखने में आता है कि ऊँची कक्षाओं के अध्यापकों में से कुछ व्यक्ति खोज के क्षेत्र में उतर जाते हैं और फिर वे नाम-मात्र के लिये अध्यापक रह जाते हैं। उस दिन विलायत से लौटे हुए एक मित्र कह रहे थे कि इंगलैंड के एक विश्वविद्यालय के एक प्रसिद्ध विद्वान्

अध्यापक उन्हें बतला रहे थे कि मुझे वर्ष में छः व्याख्यान विद्यार्थियों को देने पड़ते हैं इस कारण मेरे अपने खोज के कार्य में बड़ी बाधा पड़ती है। यूरोप के बड़े विश्वविद्यालयों में ऐसे विद्वान् अध्यापकों से अध्यापन का कार्य नाममात्र को ही लिया जाता है।

इस संबंध में एक बात और ध्यान देने की है। खोज के लिये अगणित विषय हैं। यह युग विशेषज्ञता का है। हिंदी के कार्यक्षेत्र में खोज करने वाले विद्वानों की संख्या अभी उँगली पर गिनी जा सकती है। बहुत से विषय तो ऐसे हैं जिनमें खोज करना तो दूर की बात है अभी अन्य भाषाओं के तद्विषयक ग्रंथों का हिंदी अनुवाद भी नहीं हो पाया है। ऐसी अवस्था में प्रायः यह देखा गया है कि यदि कोई हिंदुस्तानी अँग्रेज़िया-विद्वान् हिंदी से सहानुभूति भी रखते हैं तो उनकी गिनती उस विषय के हिंदी विद्वानों में होने लगती है। फिर इतिहास के विद्वान् सूरदास अथवा तुलसीदास के भी विशेषज्ञ मान लिये जाते हैं। यही अराजकता के लक्षण हैं। पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा से यह आशा करना कि वे सूरदास के दृष्टिकूटों का अर्थ ठीक लगा सकेंगे या महाकवि बिहारी की किसी चोखी उक्ति की सहृदयता समझा सकेंगे उनके साथ अन्याय करना है और उनको अपने उपयोगी मार्ग से विचलित करना है।

भिन्न-भिन्न विषयों पर हिंदी के माध्यम से खोज का कार्य करने वालों की संख्या बहुत थोड़ी है। साहित्य, इतिहास, समाजशास्त्र, विज्ञान, धर्म्म, दर्शनशास्त्र, ललित अथवा उपयोगी कलाओं तथा भाषाशास्त्र आदि में खोज करने वालों के नाम स्वयं ढूँढ कर देखिए तभी हिंदी साहित्य की ग़रीबी का पता लगेगा। यूरोपीय भाषाओं में इन समस्त विषयों के अगणित उपविभागों पर सैकड़ों विद्वान् कार्य कर रहे हैं। हिंदी के इस कार्यक्षेत्र में इस दिन के आने में अभी बहुत दिन हैं।

साहित्य-संबंधी प्रचार तथा प्रबंध

यह कार्यक्षेत्र अत्यंत उपयोगी तथा आवश्यक है। प्रबंध-संबंधी प्रतिभा रखने वाले व्यक्ति अत्यंत दुर्लभ होते हैं फिर वे इस प्रतिभा का उपयोग हिंदी प्रचार अथवा हिंदी की किसी संस्था के प्रबंध में करें यह विशेष हर्ष की बात है। यह होते हुए भी हमें यह नहीं भुलाना चाहिए कि प्रबंधक होने से ही कोई व्यक्ति विद्वान् या लेखक नहीं हो जाता है। 'पायनियर' के प्रबंध-

संपादक को किसी विश्वविद्यालय में अंग्रेज़ी का अध्यापक बनाना कहाँ तक उपयुक्त होगा अथवा 'आक्सफ़र्ड यूनिवर्सिटी प्रेस' के मालिक से शेक्सपियर की किसी पंक्ति का अर्थ पूछना कहाँ तक उचित होगा। किंतु हिंदी संसार में यह सब हो रहा है। जैसे धनवाले को यश तथा शक्ति की लिप्सा होती है ऐसी ही सफल प्रबंधक को विद्वान् तथा लेखक गिने जाने की उत्कट वांछा होती है। यह दोनों ही अनधिकार चेष्टाएँ हैं।

हिंदी के दैनिक, अर्द्ध साप्ताहिक, पाक्षिक, मासिक, द्वैमासिक तथा त्रैमासिक पत्र-पत्रिकाओं के संपादकों का एक बड़ा भारी वर्ग है। इस वर्ग के सभ्य प्रायः हिंदी के संबंध में प्रत्येक कार्य के लिये योग्य समझे जाते हैं। इस वर्ग के हाथ में सच पूछिए तो देश को बनाने अथवा बिगाड़ने की बड़ी भारी शक्ति है। किंतु मेरी प्रार्थना तो यह है कि इस वर्ग को हिंदी साहित्य के साथ नहीं खेलना चाहिए। यह काम तो यह वर्ग मौलिक लेखक, विद्वान् तथा अध्यापक वर्ग के हाथ में छोड़ दे तो अच्छा हो। इसी में साहित्य का कल्याण है। 'टाइम्स आव इंडिया' के संपादक को हम शेक्सपियर के नाटकों के संपादन का कार्य नहीं देंगे। न 'लीडर' के संपादक से हम यह आशा कर सकते हैं कि वह 'वर्डसवर्थ' की तरह कविता लिखे या 'अंग्रेज़ी साहित्य का इतिहास' लिख डाले।

हिंदी कार्यक्षेत्र में जो अराजकता के लक्षण दिखाई पड़ रहे हैं उनका ऊपर दिग्दर्शन मात्र कराया गया है। प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति परिमित है, अतः उसको चाहिए कि वह अपने को जिस कार्य के लिये योग्यतम समझे उसी को यथासंभव अपने जीवन का ध्येय बना ले। साहित्य के क्षेत्र में मौलिक रचना, अध्यापन, खोज तथा एक-एक के उपविभाग में इतना काम करने को पड़ा है कि सैकड़ों हज़ारों आदमी बरसों काम करें तब भी कदाचित् कार्य समाप्त नहीं हो सकेगा। अतः कार्यक्षेत्र को बराबर बदलने अथवा एक से अधिक कार्यक्षेत्र में काम करने से लाभ की अपेक्षा हानि की अधिक संभावना है। कुछ ऐसे अलौकिक प्रतिभा वाले व्यक्ति भी होते हैं जो एक से अधिक कार्यक्षेत्र में काम कर दिखलाते हैं और कभी-कभी तो साहित्यिक क्षेत्र के बाहर राजनीति तथा धर्म आदि के क्षेत्रों में भी सफलता-पूर्वक बड़े-बड़े काम कर जाते हैं किंतु ऐसे व्यक्ति समाज में नियम नहीं, बल्कि सदा अपवाद-स्वरूप ही रहेंगे।

४—सूरदास जी के इष्टदेव श्रीनाथ जी का इतिहास

चौरासी वार्ता के अनुसार महाप्रभु वल्लभाचार्य जी ने सूरदास जी को गोवर्द्धन में श्रीनाथ जी के मंदिर में कीर्तन का कार्य सौंपा था और सूरदास जी का प्रायः समस्त कृष्ण-कीर्तन, जो सूरसागर में संगृहीत है, यहाँ ही रचा गया था।

सूरदास जी ने इन इष्टदेव श्रीनाथ जी का पूर्ण वृत्तांत 'श्रीगोवर्द्धननाथ जी के प्रागट्य की वार्ता' शीर्षक पुस्तक में दिया हुआ है। एक बार ब्रज-यात्रा में मुझे इस पुस्तक की एक लीथो प्रति मिली थी। यह मुंशी नवलकिशोर भार्गव की आज्ञानुसार मथुरा में १८८४ ईस्वी की छपी हुई है। लेखक का नाम नहीं दिया गया है। इस पुस्तक की सामग्री अत्यंत रोचक और उपयोगी है तथा हिंदी प्रेमियों को अभी साधारणतया उपलब्ध नहीं है, इसलिये इसका सार नीचे दिया जाता है।

संवत् १४६६ अर्थात् १४०९ ई०, श्रावण वदी तृतीया, आदित्यवार, सूर्य उदय के समय एक ब्रजवासी को श्री गोवर्द्धननाथ जी की अर्द्ध भुजा का और श्रावण सुदी नागपंचमी को पूरी भुजा का दर्शन हुआ। उसने अन्य लोगों को बुलाकर दिखाया। तब से प्रति वर्ष नागपंचमी के दिन वहाँ मेला होने लगा और इस भुजा की पूजा होती थी। यह क्रम संवत् १५३५ तक चलता रहा। संवत् १५३५ अर्थात् १४७८ ई०, वैशाख बदी ११, बृहस्पतिवार के दिन मध्याह्नकाल में श्री गोवर्द्धननाथ जी का मुखारविंद प्रकट हुआ। इसी दिन इसी समय महाप्रभु वल्लभाचार्य जी का भी जन्म हुआ था[१]।

संवत् १५५६ अर्थात् १४९९ ई०, फाल्गुन सुदी ११, बृहस्पतिवार को श्री वल्लभाचार्य जी को ब्रज आने की प्रेरणा हुई। संवत् १५५२ अर्थात् १४९५ ई०, श्रावण सुदी ३, बुधवार को श्रीनाथ जी की स्थापना गोवर्द्धन के ऊपर कदाचित् एक छोटे मंदिर में हुई।

---

१ 'श्री वल्लभाचार्य जी का संक्षिप्त जीवन-चरित्र' शीर्षक एक छोटी हिंदी पुस्तक के अनुसार संवत् १५३५ के लगभग वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट जी तीर्थ-यात्रा करते हुए काशी पहुँचे। यहाँ इनकी स्त्री 'इल्लमागारू जी' गर्भवती हुईं। किंतु इसी समय वहाँ दंडी और म्लेच्छों में उपद्रव शुरू हुआ जिससे वहाँ के रहने वाले जहाँ-तहाँ भाग निकले। लक्ष्मण भट्ट जी भी स्त्री-सहित चले और चम्पारण्य पहुँचे। मार्ग में उनकी स्त्री के पुत्र हुआ जिसका नाम 'श्रीवल्लभ' रक्खा गया। जन्म का दिन वैशाख कृष्णा ११ रविवार सं० १५३५ था। म्लेच्छों के उपद्रव का संकेत सुल्तान बहलोल (१४५०-१४८९ ई०) द्वारा जौनपुर जीतने की घटना की ओर हो सकता है,

संवत् १५५६ अर्थात् १४९९ ई०, चैत्र सुदी २ के दिन पूर्णमल्ल खत्री ने बड़ा मंदिर बनाने का संकल्प किया। आगरे के एक प्रसिद्ध मिस्त्री हीरामनि ने श्री वल्लभाचार्य जी के परामर्श से नक़शा बनाया। संवत् १५५६, वैशाख सुदी ३, आदित्यवार को मंदिर की नींव रक्खी गई। एक लाख रुपया ख़र्च करने पर भी मंदिर अधूरा रह गया। बीस वर्ष बाद पूर्णमल्ल को तिजारत में तीन लाख का लाभ हुआ तब वह मंदिर पूरा हुआ। संवत् १५७६ अर्थात् १५११ ई०, वैशाख बदी ३ अक्षय तृतीया को श्री वल्लभाचार्य ने इस मंदिर में श्रीनाथ जी की स्थापना की। माधवेंद्रपुरी बंगाली को मुखिया, कृष्णदास को अधिकारी तथा कुंभनदास को कीर्तन की सेवा सौंपी। १४ वर्ष पर्यंत बंगालियों ने मंदिर में सेवा का काम किया। श्री वल्लभाचार्य के स्वर्गवास[1] के पश्चात् श्री गोपीनाथ जी तीन वर्ष गद्दी पर रहे। उनकी अकाल मृत्यु के बाद श्री विट्ठलनाथ जी गद्दी पर बैठे। इनके समय में बंगालियों के स्थान पर गुजराती ब्राह्मण श्रीनाथ जी की सेवा में नियुक्त किए गये[2]। अष्टछाप कवि—सूरदास, परमानंद, कृष्णदास, छीतस्वामी, कुंभनदास, चत्रभुजदास, विष्णुदास और गोविंदस्वामी—ने श्रीनाथ का यश गाया है। संवत् १६२३ अर्थात् १५५६ ई०, फाल्गुन वदी ७, गुरुवार को श्रीनाथ जी कुछ दिनों को मथुरा श्री विट्ठलनाथ के घर पर श्री गिरधर द्वारा लाए गए।

श्री विट्ठलनाथ जी के स्वर्गवास के बहुत दिनों बाद उनके प्रपौत्र के पौत्र श्री दामोदर जी (बड़े दाऊ जी) के समय में जब औरंज़ेब का राज्यकाल था तब आगरे से बादशाह का एक हलकारा यह हुक्म लाया कि 'श्री गोकुल के फकीरों से कहो जो हम कौ कछूक करामात दिखावैं नहीं तौ हमारे देश मैं तै उठि जाउ।' आपस में परामर्श के बाद संवत् १७२६ अर्थात् १६६९ ई०,

---

१ श्री वल्लभाचार्य जी के संक्षिप्त जीवन-चरित्र के अनुसार श्री वल्लभाचार्य का स्वर्गवास संवत् १५८७ अर्थात् १५३० ई०, आषाढ़ सुदी २ को ५२ वर्ष की अवस्था में हुआ। उनके बड़े पुत्र श्री गोपीनाथ जी का जन्म संवत् १५६०, आश्विन वदी १२ को तथा दूसरे पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी का जन्म संवत् १५७२ अर्थात् १५१५, ई० पौष वदी ९ को हुआ था। श्री विट्ठलनाथ जी की मृत्यु ७२ वर्ष की आयु में अर्थात् १५८७ ई० के लगभग हुई! उनके बाद उनके ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर जी गद्दी पर बैठे। इनका जन्म सं० १५९७ अर्थात् १५४० ई० में हुआ था। श्री गिरिधर जी के पौत्र श्री विट्ठलराय जी हुए और इनके पौत्र श्री दामोदर जी (बड़े दाऊ जी) हुए। इन्हीं के समय में श्रीनाथ जी मेवाड़ ले जाए गए।

२ बंगालियों के निकलने का अत्यंत रोचक वर्णन 'चौरासी वार्ता' में कृष्णदास अधिकारी की वार्ता में दिया हुआ है।

आसोज सुदी १५, शुक्रवार को श्रीनाथ जी को गंगाबाई[1] के रथ में छिपा कर गोवर्द्धन से हटा कर आगरे लाया गया। पहले दो सौ सिपाही गोवर्द्धन का मंदिर तोड़ने को आए लेकिन वे मारे गए। उसके बाद ५०७ सिपाही भेजे गए लेकिन वे भी मारे गए। इस पर बादशाह ने वज़ीर को बहुत बड़ी सेना लेकर भेजा तब मंदिर की समस्त सामग्री लूटी गई और मंदिर के स्थान पर मस्जिद बनवा दी गई। आगरे में श्रीनाथ जी के आने की ख़बर फैल जाने पर वहाँ से भी श्रीनाथ जी को छिपा कर हटाना पड़ा। चंबल तक सिपाहियों ने पीछा किया।

कुछ दिनों में सब लोग श्रीनाथ जी को लेकर कोटा बूँदी पहुँचे। चौमासा बिता कर पुष्कर जी होकर राजा जसवंतसिंह के समय में जोधपुर पधारे। राजा जसवंतसिंह उन दिनों कमायूँ के पहाड़ में अपनी ननसाल गए हुए थे। जोधपुर में कुछ दिन रहकर गोवर्द्धन से चलने के ढाई वर्ष बाद संवत् १७२८ अर्थात् १६७१ ई०, फाल्गुन बदी ७ को श्रीनाथ जी मेवाड़ पहुँचे। राना रायसिंह ने अपनी माता के कहने से वहाँ ठहरने की स्वीकृति दी। बादशाह के आक्रमण के भय के संबंध में राना रायसिंह की माता ने अपने पुत्र से कहा कि "तुम रजपूत हौ, जमी के लीयें जीव देत हौ, तौ श्रीठाकुर जी के लीएँ जीव देने का दावा विशेष है।"

बादशाह को जब यह पता चला तो मेवाड़ पर चढ़ाई हुई। राना रायसिंह ने चालीस हज़ार फौज लेकर मुक़ाबला किया। बादशाह की दो बेग़मों की सवारी भूल से राना की फ़ौज में आकर फँस गई। राना रायसिंह ने आदर के साथ उन्हें बादशाह के पास भिजवा दिया। इसके बाद बादशाह और राना में सुलह हो गई और बादशाह की फ़ौज वापिस चली गई। श्रीनाथ जी को मंदिर से हटाकर दूसरे स्थान पर भेज दिया गया था उन्हें भी वापिस लाया गया।

संवत् १७४२ अर्थात् १६८५ ई०, फाल्गुन में एक करोड़पति माधवदास देसाई ने एक लाख के आभूषण श्रीनाथ जी को भेंट किए। यहाँ पर 'श्री गोवर्द्धननाथ जी के प्रागट्य की वार्ता' सहसा समाप्त हो जाती है। इस वार्ता में दी हुई तिथियाँ और उल्लेख कहाँ तक मान्य हैं इस संबंध में मुग़ल काल के इतिहासज्ञों को ध्यान देना चाहिए। यह स्मरण दिलाने की आवश्यकता नहीं है कि इस समय श्रीनाथ जी नाथद्वारा मेवाड़ में ही विराजते हैं।

---

१ श्री गंगाबाई की वार्ता के लिये देखिए 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता'। इसमें गोवर्द्धन पर मुसलमानों के आक्रमण का भी अत्यंत रोचक वर्णन है।

५—क्या दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथकृत है ?

'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' का प्रथम आधुनिक उल्लेख टैसी[1] ने अपने सुप्रसिद्ध इतिहास के दूसरे संस्करण में किया है जो १८७० में प्रकाशित हुआ था। टैसी के शब्दों का भाव निम्नलिखित है—

'अपने पिता विट्ठलनाथ जी, उपनाम श्रीगुसाईं जी महाराज, के दो सौ बावन शिष्यों का हाल भी इन्होंने लिखा है।'

टैसी के बाद के लिखे हुए 'शिवसिंहसरोज' (१८७७ ई०) तथा ग्रियर्सन-कृत 'वर्नाक्यूलर लिटरेचर अव् हिंदुस्तान' (१८८९ ई०) में गोकुलनाथ का कोई विशेष उल्लेख नहीं है। हिंदी साहित्य के प्रथम विस्तृत इतिहास 'मिश्र-बंधुविनोद'[2] में गोस्वामी गोकुलनाथ जी के विषय में लिखते हुए मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि "इनके दो गद्य ग्रंथ चौरासी वैष्णवों की वार्ता और २५२ वैष्णवों की वार्ता *प्रसिद्ध* हैं और दोनों हमारे पुस्तकालय में वर्तमान हैं।" हिंदी साहित्य के सबसे अधिक प्रामाणिक इतिहासकार पं० रामचंद्र शुक्ल के इतिहास में और भी अधिक स्पष्ट शब्दों में नीचे लिखा उल्लेख मिलता है, "इसके उपरांत सगुणोपासना की कृष्णभक्ति-शाखा में दो सांप्रदायिक गद्य-ग्रंथ व्रजभाषा के मिलते हैं—चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता। ये दोनों वार्ताएँ आचार्य्य श्री वल्लभाचार्य्य जी के पौत्र और गोसाईं विट्ठलनाथ जी के पुत्र गोसाईं गोकुलनाथ जी की *लिखी* हैं[3]।" मिश्रबंधु तथा पं० रामचंद्र शुक्ल के इन उल्लेखों के बाद हिंदी में अथवा अंग्रेज़ी में लिखे गए हिंदी साहित्य के प्रायः समस्त इतिहासों में इन ग्रंथों का गोकुलनाथ-कृत लिखा जाना स्वाभाविक ही है। १९२९ में जब मैंने इन वार्ताओं में से अष्टछाप कवियों की जीवनियों को संकलित करके प्रकाशित किया था उस समय भी मुझे इस विषय में कुछ संदेह था इसलिये मैंने 'अष्टछाप'[4] के वक्तव्य में संदेहात्मक ढंग से लिखा था कि "प्रस्तुत पुस्तक

---

१ गार्सां द तासी : 'इस्त्वार दा ला लितेरत्थूर एँदूई ए एँदूस्तानी', द्वितीय संस्करण, १८७० ई० भाग १, पृ० ४९९।

२ 'मिश्रबंधुविनोद', द्वितीय संस्करण, भाग १, पृ० ३०८।

३ रामचंद्र शुक्ल : 'हिंदी साहित्य का इतिहास,' संवत् १९८६ पृ० ४८१

४ 'अष्टछाप', संकलनकर्ता धीरेंद्र वर्मा, १९२९, वक्तव्य पृ० १।

गोकुलनाथ जी के नाम से *प्रचलित* ८४ वैष्णवन की वार्ता तथा २५२ वैष्णवन की वार्ता शीर्षक ग्रंथों में अष्टछाप कवियों की जीवनियों का संग्रहमात्र है।" यद्यपि संग्रह के मुखपृष्ठ पर 'गोकुलनाथ कृत' शब्द छपे हैं।

चौरासी वार्ता तथा दो सौ बावन वार्ता के इस समय डाकोर के संस्करण प्रामाणिक हैं, किंतु इनके मुखपृष्ठ पर इनके गोकुलनाथ कृत होने का उल्लेख नहीं है। चौरासी वार्ता में कोई ऐसे विशेष उल्लेख देखने में नहीं आते हैं जो इसके गोकुलनाथ कृत होने में संदेह उत्पन्न करते हों, किंतु दो सौ बावन वार्ता में अनेक ऐसी बातें मिलती हैं जिनसे इसका गोकुलनाथ कृत होना अत्यंत संदिग्ध हो जाता है।

सबसे पहली बात तो यह है कि इस वार्ता में अनेक स्थलों पर गोकुलनाथ का नाम इस तरह आया है जिस तरह कोई भी लेखक अपना नाम नहीं लिख सकता है। इन उल्लेखों से स्पष्ट विदित होता है कि कोई तीसरा व्यक्ति गोकुलनाथ के संबंध में लिख रहा है। उदाहरण के लिये पहली गोविंदस्वामी की वार्ता में से कुछ उद्धरण नीचे दिए जाते हैं—

"जब कहते-कहते अर्ध रात्र बीती तब श्री गुसाईं जी पौढ़े। गोविंदस्वामी घर कूं चले। तब श्री बालकृष्ण जी तथा श्री गोकुलनाथ जी तथा श्री रघुनाथ जी तीनों भाई वैष्णवन के मंडल में विराजते हते। जब गोविंदस्वामी ने जाय के दंडवत करी। तब श्री गोकुलनाथ जी ने पूछे जो श्री गुसाईं जी के यहाँ कहा प्रसंग चलतो हतो[1]।" इसी वार्ता में एक दूसरे स्थल पर आता है—

"श्रीनाथ जी तथा गोविंदस्वामी के गान सुनिवे के लिये श्री गोकुलनाथ जी नित्य पधारते और एक मनुष्य बैठाय राखते। जो श्री गुसाईं जी भोजन करवे कुं पधारें तब मो कुं बुलाय लीजो[2]।"

इस तरह के अनेक उल्लेख इस वार्ता में तथा अन्य वार्ताओं में आते हैं। इस पर कोई टिप्पणी करना व्यर्थ है।

दो सौ बावन वार्ता के अंदर दो स्थलों की ओर मेरा ध्यान मेरे शिष्य श्री गणेशप्रसाद ने पहले पहल आकर्षित किया था। पहला स्थल "श्री गुसाईं जी के सेवक लाडबाई तथा धारबाई" शीर्षक १९९वीं वार्ता में है[3]। ये

---

(१) 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' डाकोर सं० १९६०, पृ० ५।
(२) वही, पृ० ९।
(३) वही, पृ० ३९३।

कदाचित् वेश्याएँ थीं और मानिकपुर की रहनेवाली थीं। इन्होंने अपनी जीवन भर की कमाई 'नव लक्ष रुपैया' पहले विट्ठलनाथ जी को तथा कुछ दिनों बाद उनके पुत्र गोकुलनाथ जी को अर्पण करना चाहा, किंतु दोनों ने आसुरी धन समझ कर अंगीकार नहीं किया। "तब श्री गोकुलनाथ जी के अधिकारी ने श्री गोकुलनाथ जी के पूछे बिना एक छात में बिछाय के ऊपर कांकर डराय के चूनो लगाय दियो सो वा छात में द्रव्य रह्यो आयो। फेर साठ वर्ष पीछे औरंगज़ेब बादशाह की जुलमीं के समय में म्लेच्छ लोक लूंटवे कुं आए तब श्री गोकुल में सुं सब लोग भाग गए। और मंदिर सब खाली होय गए कोई मनुष्य गाम में रह्यो नहीं। तब विन म्लेच्छन ने वे छात खोदी। सो नवलक्ष रुपैय्यान को द्रव्य निकस्यो। तब गाम में जितने मंदिर हते सब मंदिरन की छात खुदाय डारी। सो आसुरी द्रव्य के संग तें सब गोकुल को छात खुदाई। सो वे लाडबाई धारबाई श्री गुसाईं जी के सेवक ऐसे हते।"

स्मिथ[1] के अनुसार औरंगज़ेब ने मंदिर तुड़वाने की नीति सन् १६६९ से प्रारंभ की थी। खोज के अनुसार गोकुलनाथ जी का समय[2] १५५१ से १६४७ ई० तक माना गया है। इस तरह गोकुलनाथ कृत ग्रंथ में औरंगज़ेब के राज्य की इस घटना का उल्लेख संभव नहीं है। इस उल्लेख से यह भी ध्वनि निकलती है कि यह वार्ता कदाचित् औरंगज़ेब के राज्यकाल के बाद लिखी गई है।

दूसरा स्थल "श्री गुसाईं जी के सेवक गंगाबाई क्षत्राणी" शीर्षक ५१वीं वार्ता[3] में है। इस वार्ता में गंगाईबाई के संबंध में लिखा है कि "और सोले से अट्ठाईस में विन को जन्म हतो और सत्रें सो छत्तीस वर्ष सूधी वे भूतल पर रही हती। एक सो आठ वर्ष सूधी रही हती और मेवाड़ में श्रीनाथ जी के संग आई हती।" यदि ये संख्याएँ विक्रमी संवत् मान ली जावें तो गंगाबाई का समय १५७१ ई० से १६७९ ई० तक पड़ता है। गंगाबाई का श्रीनाथ जी के साथ मेवाड़ जाने का उल्लेख "श्रीगोवर्द्धननाथ जी के प्रागट्य की

(१) स्मिथ : आक्सफ़र्ड हिस्ट्री आव इंडिया, पृ० ४३९।

(२) वल्लभाचार्य का समय १४७९ से १५३१ ई० तथा विट्ठलनाथ जी का समय १५१५ से १५८५ ई० तक माना जाता है।

(३) 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता', डाकोर, १९६०, पृ० ११२।

वार्ता"[1] शीर्षक ग्रंथ में आया है और वहाँ इस घटना की तिथि भी स्पष्ट शब्दों में दी हुई है। इस उल्लेख के शब्द निम्नलिखित हैं—"मिति असोज सुदी १५ शुक्र संवत् १७२६ के पाछिली पहर रात्री श्रीवल्लभ जी महाराज पयान सिद्ध कराए, अरोगाए। पीछे रथ हांके चले नहीं। तब श्री गोस्वामि विनती कीए तब श्रीजी आज्ञा की जो गंगाबाई कौ गाड़ी में बैठाय कैं संग लै चलौ। रथ के पाछे गाड़ी चली आवै।" इस तरह यह घटना इस प्रमाण के अनुसार भी १६६९ ई० में ही पड़ती है। गंगाबाई के संबंध में इस निश्चित उल्लेख से भी यही सिद्ध होता है कि दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथ कृत नहीं हो सकती है।

अब एक ऐसा प्रमाण दिया जा रहा है जो व्यापक रूप से समस्त ग्रंथ पर लागू होता है और जिससे स्पष्ट रीति से यह सिद्ध हो जाता है कि ८४ वार्ता तथा २५२ वार्ता के रचयिता दो भिन्न व्यक्ति थे, और २५२ वार्ता निश्चित रूप से सत्रहवीं शताब्दी के बाद की रचना है। "ब्रजभाषा" शीर्षक खोज-ग्रंथ की सामग्री जमा करते समय मैंने चौरासी तथा दो सौ बावन वार्ताओं के व्याकरण के ढाँचों का भी अध्ययन किया था। इस अध्ययन से मुझे यह आश्चर्यजनक बात मालूम हुई कि इन दोनों वार्ताओं के व्याकरण के अनेक रूपों में बहुत अंतर है। यहाँ विस्तार से तो मैं इस विषय की समस्त सामग्री नहीं रखूँगा किंतु कुछ थोड़े नमूने अवश्य रखना चाहूँगा। उदाहरण के लिये कारक चिह्नों को ही लीजिए। नीचे इनकी तुलनात्मक सूची दी जाती है—

	चौरासी वार्ता	दो सौ बावन वार्ता
कर्म-संप्रदान	कों को	कुं कूं
करण-अपादान	सों	सूं सुं

क्रियाओं के नीचे लिखे रूप भी ध्यान देने योग्य हैं—

वर्तमान	हौं हों हैं	हूँ हुं हे
भूतकाल	हुतो, हुते, हुती	हतो, हते, हती
आज्ञा	करौ, देखौ, गावौ	करो, देखो, गावो

(१) इस ग्रंथ की एक प्राचीन छपी हुई प्रति (१८८४ ई०)-मुझे मथुरा में एक छोटी-सी दूकान पर मिली थी। पुष्टिमार्ग के इतिहास पर यह ग्रंथ विशेष प्रकाश डालता है। इसका विस्तृत विवेचन मैं पृथक लेख में करने का विचार करता हूँ।

उदाहरण के लिये दोनों वार्ताओं में से कुछ वाक्य नीचे दिए जाते हैं—

दो सौ बावन वार्ता

कूं	पृ० ४७	जो तुमारो धर्म हम कूं सिखावो।
कुं	पृ० १४४	तब सब वैष्णव श्यामदास कुं समझाये लगे।
सुं	पृ० ३००	तब विनको स्नेह सुं हृदय भर आयो।
हुं	पृ० ४६	राज की कृपातें अबी आयो हुं।
हें	पृ० ७८	सो बहुत दिन भए हें।
हतो	पृ० ३०१	वैष्णव के ऊपर विश्वास बहुत *हतो*।
हते	पृ० ४६	सो वे कृष्ण भट्ट जी ऐसे कृपापात्र *हते*।
हती	पृ० ११६	एक ब्राह्मणी *हती*।
दिखावो	पृ० ३७८	अब तुम ये स्वांग पूरो कर *दिखावो*।
बरसो	पृ० ३४९	हमारो डेरो छोड़ के *बरसो*।
लेओ	पृ० ८२	मोकुं शरण *लेओ*।

चौरासी वार्ता

कौं	पृ० २५४	राजा मानसिंग श्रीगोवर्द्धन जी के दर्शन कौं गिरिराज ऊपर आए।
को	पृ० ३९	तब श्री गुसाईं जी *को* दंडोत कीनी।
सौं	पृ० १३२	राजा *सौं* मिल्यौ।
हौं	पृ० ४८	में तो विरक्त *हौं*।
हैं	पृ० १७३	ऐसे कृपापात्र भगवदीय हैं।
हुतौ	पृ० २०९	सो साथ एक सेवक *हुतौ*।
हुते	पृ० ६९	सो नारायण ऐसे त्यागी *हुते*।
हुती	पृ० २०८	उनकौ आज्ञा दीनी *हुती*।
करौ	पृ० २१५	सूरदास श्री गोकुल कौं दर्शन *करौ*।
गावौ	पृ० २१७	ताते तुमहू कछू *गावौ*।
बेठौ	पृ० १६०	तुम दोऊ स्त्री पुरुष स्नान करिकें आय *बेठौ*।

ऊपर दिए हुए ये कुछ नियम हैं। अपवाद-स्वरूप एक वार्ता वाले रूप दूसरी वार्ता में कहीं-कहीं मिल जाते हैं। एक ही व्यक्ति अपनी दो रचनाओं में व्याकरण के इन छोटे-छोटे रूपों में इस तरह का भेद नहीं कर

सकता। कूं सूं इत्यादि रूप निश्चित रूप से बाद के हैं जो प्राचीन भाषा में साधारणतया प्रयुक्त नहीं होते थे। मौखिक रूप से ऐसे वृहत् गद्य ग्रंथ की रक्षा हो सकना असंभव है नहीं तो यह कहा जा सकता था कि धीरे धीरे मूल ग्रंथ के मौखिक रूप में बाद को समान रूप से ऐसे व्याकरण संबंधी परिवर्तन हो गए होंगे।

ऊपर दिए हुए समस्त कारणों से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दो सौ बावन वार्ता गोकुलनाथ कृत नहीं हो सकती। कदाचित् चौरासी वार्ता के अनुकरण में सत्रहवीं शताब्दी के बाद किसी वैष्णव भक्त ने इसकी रचना की होगी।

६—मध्यदेशीय संस्कृति और हिंदी-साहित्य

किसी जाति का साहित्य उसके शताब्दियों के चिंतन का फल होता है। साहित्य पर भिन्न-भिन्न कालों की संस्कृति का प्रभाव अनिवार्य है। इस प्रकार, किसी भी जाति के साहित्य के वैज्ञानिक अध्ययन के लिये उसकी संस्कृति के इतिहास का अध्ययन परमावश्यक है। इसी सिद्धांत के अनुसार अंग्रेज़ी आदि यूरोपीय साहित्यों का सूक्ष्म अध्ययन करने वालों को उन भाषाभाषियों की संस्कृति के इतिहास का भी अध्ययन करना पड़ता है। यही बात हिंदी-साहित्य के अध्ययन के संबंध में भी कही जा सकती है। हिंदी-साहित्य के ठीक अध्ययन के लिये भी हिंदी-भाषियों की संस्कृति के इतिहास का अध्ययन अत्यंत आवश्यक है।

यहाँ पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि क्या हिंदी-भाषियों की संस्कृति भारतीय संस्कृति से कोई पृथक् वस्तु है? इस प्रश्न के उत्तर में यह निःसंकोच भाव से कहा जा सकता है कि भारतवर्ष की व्यापक संस्कृति में सन्निहित होने पर भी समस्त प्रधान अंगों में हिंदी-भाषियों की एक पृथक् संस्कृति अवश्य है। प्राचीन भारतवर्ष के इतिहास के अनुशीलन से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि भारतीय एकता में अनेकरूपता बराबर छिपी रही है। संपूर्ण भारतवर्ष को एक महाद्वीप अथवा राष्ट्रसंघ की संज्ञा देना ही उयुपक्त होगा। इस राष्ट्रसंघ के अंतर्गत कई राष्ट्र हैं जिनमें से प्रत्येक का पृथक् व्यक्तित्व है। इस पार्थक्य का प्रभाव इन राष्ट्रों की संस्कृति—जैसे भाषा एवं साहित्य आदि—पर समुचित रूप से पड़ा है। धर्म के व्यावहारिक रूप भाषा तथा साहित्य के क्षेत्रों में संस्कृति का यह भेद स्पष्टरूप से दृष्टिगोचर होता है। उदाहरणार्थ बंगाल और संयुक्त-प्रांत की संस्कृति का मूल स्रोत यद्यपि एक ही है, बंगाली तथा हिंदी-भाषी दोनों भारतीय हैं; किंतु बंगाल में दुर्गा अथवा शक्ति की और संयुक्त-प्रांत में राम-कृष्ण की ही उपासना का प्राधान्य है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि मूल में एकता होने पर भी व्यवहार में पार्थक्य है। यह पार्थक्य राष्ट्रीय जीवन के अन्य अंगों में भी दृष्टिगोचर होता है। हिंदी आज संपूर्ण भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा होने जा रही है, विश्ववन्द्य महात्मा गांधी तथा कवींद्र रवींद्र इसे स्वीकार करते हैं, किंतु फिर भी ठाकुर

महोदय ने अपनी समस्त साहित्यिक कृतियाँ बँगला में एवं महात्मा जी ने गुजराती में लिखी हैं, हिंदी में नहीं। जिस प्रकार व्यापक दृष्टि से समस्त यूरोप की एक संस्कृति है, किंतु साथ ही फ्रांस, जर्मनी, इटली आदि अनेक राष्ट्र है जिनकी अलग-अलग संस्कृति संबंधी विशेषताएँ हैं, उसी प्रकार इस भारतीय महाद्वीप में भी बंगाल, गुजरात, आंध्र, महाराष्ट्र, आदि प्रांत-संज्ञक अनेक राष्ट्र हैं जो संस्कृति की दृष्टि से अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। इसी भाँति हिंदी-भाषियों की भी एक पृथक् संस्कृति है। उसी संस्कृति पर यहाँ संक्षेप में कुछ विचार प्रकट किए जाएँगे। इस लेख में सुविधा के लिये हिंदी-भाषियों के लिये हिंदी तथा हिंदी-भाषी प्रदेश के लिये हिंद या मध्य-देश शब्द का प्रयोग किया गया है।

सबसे पहले इस बात पर विचार करने की आवश्यकता है कि हिंदी-भाषियों की भौगोलिक सीमा क्या है। आधुनिक काल में भारतवर्ष की राजभाषा अंग्रेज़ी है। मुग़ल काल में फ़ारसी इस आसन पर आसीन थी। किंतु फ़ारसी और अंग्रेज़ी कभी भी राष्ट्रभाषा का स्थान न ले सकीं। वे केवल राजभाषाएँ थीं और हैं। राष्ट्रभाषा अंतर्प्रांतीय उपयोग की भाषा होती है। जब से भारतवर्ष में व्यापक राष्ट्रीयता का आंदोलन प्रचलित हुआ है तब से हिंदी राष्ट्रभाषा अथवा अंतर्प्रांतीय भाषा के स्थान को लेने के लिये निरंतर अग्रसर होती जा रही है। तो भी बंगाल, महाराष्ट्र, आंध्र एवं गुजरात आदि की शिक्षित जनता बंगाली, मराठी, तेलगू और गुजराती आदि में ही अपने मनोभावों को प्रकट करती रही है। ये भाषाएँ अपने-अपने प्रदेशों की साहित्यिक भाषाएँ हैं। इस तरह राजभाषा, राष्ट्रभाषा तथा साहित्यिक भाषाएँ तीन पृथक् बातें हुई। साहित्यिक भाषा ही किसी प्रदेश की असली भाषा कही जा सकती है—राजभाषा या राष्ट्रभाषा नहीं। अस्तु। वास्तव में उन्हीं प्रदेशों को हिंदी-भाषी की संज्ञा से संबोधित करना चाहिए जहाँ शिष्ट लोग अपने विचारों की अभिव्यक्ति हिंदी में करते हैं तथा जहाँ की साहित्यिक भाषा हिंदी है। भारत के मान-चित्र को देखने से यह बात स्पष्ट हो जाएगी कि संयुक्त-प्रांत, दिल्ली, हिंदी मध्यप्रांत, राजपूताना, विहार तथा मध्यभारत की देशी रियासतों का भूमिभाग ही इसके अंतर्गत आ सकता है। इसी को हम हिंदप्रदेश, या प्राचीन परिभाषा में मध्यदेश, कह सकते हैं। यह सच है कि इस प्रदेश के कतिपय भागों में, हिंदी को साहित्यिक भाषा के रूप में

मानने के संबंध में जब तब विरोध सुनाई पड़ता है। उदाहरणार्थ—बिहार प्रांत में मैथिल पंडितों का एक दल मैथिली को तथा राजपूताना के मारवाड़ प्रांत के कुछ विद्वान् डिंगल को ही उस क्षेत्र की साहित्यिक भाषा के लिये उपयुक्त समझने लगे हैं। यह विरोध कदाचित् क्षणिक है; किंतु यदि ये प्रदेश हिंदी के साहित्यिक प्रभाव के क्षेत्र से अलग भी हो जावें तो भी हिंद या मध्यदेश की भौगोलिक सीमा को कोई भारी क्षति नहीं पहुँचती। शेष प्रदेश हिंद या मध्यदेश की संज्ञा ग्रहण करता रहेगा।

अब हमें यह देखना है कि 'संस्कृति' क्या वस्तु है, तथा इसके मुख्य अंग क्या हैं? संक्षेप में संस्कृति के अंतर्गत निम्नलिखित चार मुख्य अंगों का समावेश किया जा सकता है—(१) धर्म, (२) साहित्य, (३) राजनैतिक परिस्थिति, तथा (४) सामाजिक संगठन। ये चार कसौटियाँ हैं, जिनसे संस्कृति के इतिहास का पता लगता है। इनमें से धर्म के अंतर्गत दर्शन, साहित्य में भाषा, तथा सामाजिक संगठन में जातिव्यवस्था एवं शिक्षा, कला आदि का भी समावेश हो सकता है। हमारी संस्कृति का इतिहास बहुत पुराना है। यों तो यूरोप में ग्रीस तथा रोम की सभ्यता बहुत पुरानी मानी जाती है, किंतु मध्यदेशीय संस्कृति तो इस ग्रीस तथा रोम की सभ्यता से भी बहुत पुरानी है। इतनी पुरानी सभ्यता के इतिहास पर इस अल्प समय में पूर्ण प्रकाश नहीं डाला जा सकता। अतएव यहाँ संक्षेप में ही उसका दिग्दर्शन कराया जायगा।

सुविधा की दृष्टि से इस संस्कृति के इतिहास को तीन युगों में विभक्त किया जा सकता है—प्राचीन, मध्य तथा आधुनिक। आधुनिक युग का आरम्भ तो उस काल से होता है जब हमारी संस्कृति पर पाश्चात्य सभ्यता का प्रभाव पड़ने लगा। इसे अभी बहुत थोड़े दिन हुए। लगभग संवत् १८०० से इसका आरम्भ समझना चाहिए। मध्ययुग का समय वि० सं० १ से १८०० सं० तक समझना चाहिए और प्राचीन युग का विक्रमी संवत् के प्रारंभ से १२०० वर्ष पूर्व तक। इस प्राचीन युग का भी एक प्रकार से प्रामाणिक इतिहास मिलता है। इससे भी पूर्व के समय को प्रागैतिहासिक युग में रख सकते हैं। इतने दीर्घकाल के इतिहास पर विहंगम दृष्टि से भी विचार करना सरल नहीं है।

यह पहले ही कहा जा चुका है कि संस्कृति की दृष्टि से मध्य-देश का

इतिहास अत्यंत महत्वपूर्ण है। वैदिक संस्कृति का तो यह एक प्रकार से उद्गम है। मध्यदेश की संस्कृति को ही यदि संपूर्ण भारतवर्ष की संस्कृति कहें तो इसमें कुछ भी अत्युक्ति न होगी। प्राचीन युग में ऋक्, यजुः, साम आदि वेदों की संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रंथों, आरण्यकों तथा उपनिषदों आदि की रचनाएँ हुई। इसके पश्चात् यज्ञों की रूढ़ियों आदि के कारण एक प्रतिक्रिया हुई जिसके फल-स्वरूप बौद्ध तथा जैन धर्मों की उत्पत्ति हुई। प्राचीन वैदिक धर्म के सुधार-स्वरूप ही ये दो नवीन धर्म उत्पन्न हुए थे। इन सुधार आंदोलनों के साथ-साथ उसी समय एक 'वासुदेवसुधार' आंदोलन भी प्रचलित हुआ जिसने बाद को वैष्णवधर्म का रूप ग्रहण किया।

यदि संहिता-काल के धर्म पर विचार किया जाय तो यह बात स्पष्ट विदित होगी कि इस काल में उपासना के क्षेत्र में प्रकृति के भिन्न-भिन्न रूपों में परम-सत्ता को देखने की ओर ही आर्यों का विशेष लक्ष्य था। इस काल में मंदिर आदि पूजा-स्थानों का अभाव था। उदाहरणार्थ, प्रातःकालीन लालिमा के दर्शन कर आर्य ऋषि आनंद-विभोर हो उठते थे, जिसके फल-स्वरूप उषा के स्तवन में अनेक ऋचाएँ उनके गद्गद् कंठ से निःसृत हुई। इसके पश्चात् यज्ञों की प्रधानता का समय आया, जिनमें धीरे-धीरे कर्मकांड और पशुबलि की प्रधानता हो गई। जैसा ऊपर संकेत किया जा चुका है, सुधारवाद के आंदोलनों ने—जिनमें बौद्ध, जैन तथा वासुदेव-सुधार सम्मिलित हैं—यज्ञ-काल के कर्मकाण्ड तथा हिंसा के विरुद्ध प्रचार किया।

अपनी संस्कृति के इतिहास के मध्यकाल में अनेक पुराणों की—जैसे विष्णु-पुराण, अग्नि-पुराण, श्रीमद्भागवत् इत्यादि की सृष्टि हुई। इसी काल में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश, इस देव-त्रयी की प्रधानता धर्म के क्षेत्र में हुई। आगे चलकर जब इस पौराणिक धर्म में भी परिवर्तन हुआ तो शिव के साथ उमा की उपासना अनिवार्य हो उठी। तांत्रिकयुग में कालीरूप में इन्हीं उमा का हमें दर्शन होता है। पंद्रहवीं, सोलहवीं शताब्दी में भक्तिवाद की एक प्रचंड लहर लगभग समस्त भारत को आप्लावित कर देती है। इसमें निर्गुण तथा सगुण दोनों प्रकार की भक्ति का समावेश है। सगुण भक्ति भी आगे चलकर राम तथा कृष्ण शीर्षक दो शाखाओं में विभक्त हो गई।

आधुनिक युग का निश्चयात्मक रूप अभी हम लोगों के संमुख नहीं आया है। सच तो यह है कि मनुष्य की तरह संस्कृति की भी एक आयु

होती है। किंतु यह आयु लगभग ५०, ६० वर्ष की न होकर पाँच छः सौ वर्षों की होती है। एक प्रधान लक्षण जो आधुनिक संस्कृति में दिखलाई पड़ता है वह है एक बार फिर सुधार की ओर झुकाव। आर्यसमाज के प्रवर्त्तक स्वामी दयानंद की प्रेरणा से प्राचीन आर्य धर्म का एक परिष्कृत रूप मध्यदेश की जनता के सामने आ चुका है। हिंदी-साहित्य एवं भाषा पर भी इसका प्रभाव पड़ा है।

यदि विचार-पूर्वक देखा जाय तो यह बात विदित होगी कि हिंदी-साहित्य का एक चरण मध्ययुग में तथा दूसरा चरण आधुनिक युग में है। एक ओर यदि रीतिकाल का आश्रय लेकर कवित्त सवैयों में रचना हो रही है तो दूसरी ओर छायावाद तथा रहस्यवाद के रूप में काव्य की नवीन धारा प्रवाहित हो रही है। धर्म की भी यही दशा है। यद्यपि देश, काल तथा परिस्थिति की छाप आधुनिक धर्म पर लग चुकी है, फिर भी कई बातों में हम लोग मध्ययुग के धर्म से अभी तक बहुत ही कम अग्रसर हो पाए हैं।

विश्लेषणात्मक ढंग से हिंदी-साहित्य के इतिहास पर विचार करने से यह बात विदित होती है कि हिंदी-साहित्य पर वैदिक-काल का प्रभाव नहीं के बराबर है। यद्यपि गोस्वामी तुलसीदास जी ने अनेक स्थलों पर वेद की दुहाई दी है, किंतु इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि गोस्वामी जी संहिताओं से विशेष परिचित नहीं थे। कम से कम इसका कोई भी निश्चित प्रमाण उनकी रचनाओं से उपलब्ध नहीं होता है।

हिंदी की उत्पत्ति के बहुत काल पूर्व बौद्ध तथा जैन धर्म का एक प्रकार से भारत से लोप हो चुका था। ऐसी दशा में हिंदी-साहित्य पर इन दोनों धर्मों के स्पष्ट प्रभाव का पता न लगना स्वाभाविक है। अब रह गया पौराणिक धर्म, इसका प्रभाव अवश्य विशेष रूप से हिंदी साहित्य पर पड़ा है। राम तथा कृष्ण दोनों विष्णु के अवतार हैं और इन दोनों को लेकर मध्य युग तथा आधुनिक काल में अनेक रचनाएँ हिंदी-साहित्य में प्रस्तुत की गई हैं।

तांत्रिक धर्म का प्रभाव पूरब की ओर विशेष रूप से था। बंगाल में शक्ति की उपासना का प्रादुर्भाव इसी के परिणाम-स्वरूप था। आगे चलकर वैष्णवों की 'राधा' की उपासना पर भी इस तांत्रिक धर्म का प्रभाव पड़ा।

वासुदेव-सुधार की चर्चा ऊपर की जा चुकी है। वास्तव में वैष्णव धर्म तथा बाद के भक्ति-संप्रदायों का मूल-स्रोत यही था। हिंदी-साहित्य का इस

भक्ति-संप्रदाय से अत्यंत घनिष्ट संपर्क रहा है। हमारा प्राचीन हिंदी-साहित्य एक प्रकार से धार्मिक साहित्य है। इसमें शिव का रूप गौण है। प्रधान रूप से विष्णु का रूप ही भक्ति के लिए उपयुक्त समझा गया। अतएव राम तथा कृष्ण के अवतारों के रूप में त्रयी के विष्णु का प्राधान्य मिलता है। यद्यपि संहिता तथा उपनिषदों तक में भक्ति की चर्चा मिलती हैं, किंतु इसका विशेष विकास तो पंद्रहवीं तथा सोलहवीं शताब्दी में ही हो सका।

आधुनिक युग में धर्म का प्रभाव क्षीण हो रहा है। अतएव आधुनिक हिंदी-साहित्य में भी धार्मिकता की विशेष पुट नहीं है। आजकल हिंदी में रहस्यवाद, छायावाद आदि अनेक वाद प्रचलित हैं। यदि इन वादों में कहीं ईश्वर की सत्ता है भी, तो निर्गुण रूप में ही है। इधर कवींद्र रवींद्र पर कबीर की गहरी छाप पड़ी और आधुनिक हिंदी कविता बंगाली रचनाओं से बहुत कुछ प्रभावित हुई है। इस प्रकार धर्म के विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि पौराणिक तथा भक्ति-धाराएँ ही प्रधानतया हिंदी कवियों के संमुख उपस्थित रही हैं।

जैसी परिस्थिति हम धार्मिक प्रभावों के संबंध में पाते हैं लगभग वैसी ही परिस्थिति साहित्य के क्षेत्र में भी पाई जाती है। वैदिक साहित्य का हिंदी-साहित्य पर कुछ भी प्रभाव नहीं है। शैली, छंद तथा साहित्यिक आदर्श, किसी भी रूप में, वैदिक साहित्य का प्रभाव हिंदी-साहित्य पर दृष्टिगोचर नहीं होता। पौराणिक साहित्य से हिंदी-साहित्य अवश्य प्रभावित हुआ है। पुराणों में भी श्रीमद्भागवत ने विशेष रूप से हिंदी-साहित्य को प्रभावित किया। कथानक के रूप में रामायण तथा महाभारत से भी हिंदी-साहित्य बहुत प्रभावित हुआ है। राम तथा कृष्ण-काव्य-संबंधी अनेक आख्यान संस्कृत इतिहास और पुराणों से हिंदी-साहित्य में लिए गए हैं।

संस्कृत-साहित्य का मध्ययुग वास्तव में महाकाव्यों का युग था। इस काल में संस्कृत में अनेक महाकाव्यों, खण्डकाव्यों तथा नाटकों की रचनाएँ हुईं। साधारणतया इन महाकाव्यों का भी प्रभाव हिंदी-साहित्य पर पड़ा है। यह बात दूसरी है कि हिंदी के महाकाव्यों में मानव-जीवन की उस अनेक-रूपता का एक प्रकार से अभाव है जो संस्कृत महाकाव्यों में स्वाभाविक रूप में वर्तमान है। केशव की रामचंद्रिका लक्षण-ग्रंथों के अनुसार महाकाव्य अवश्य है; किंतु उसमें जीवन की वे परिस्थितियाँ कहाँ—जो महाकाव्य के लिये

अपेक्षित हैं। संस्कृत के रीति-ग्रंथों का भी हिंदी-रीति-ग्रंथों पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। हिंदी के कई रीति-ग्रंथ तो संस्कृत काव्यशास्त्र-संबंधी ग्रंथों के केवल रूपांतर मात्र हैं।

विचार करने से यह बात स्पष्ट विदित होती है कि आधुनिक हिंदी-साहित्य का रूप अभी तक अव्यवस्थित तथा अस्थिर है। इस युग के प्रायः अधिकांश नाटक संस्कृत के अनुवाद मात्र हैं। मौलिक नाटकों की रचना का यद्यपि हिंदी में आरंभ हो चुका है; किंतु मौलिकता की जड़ें पक्की नहीं हो पाई हैं। हिंदी के कई नाटकों पर द्विजेंद्रलाल राय की शैली की स्पष्ट छाप है। बर्नर्डशा जैसे अंग्रेज़ी के आधुनिक नाट्यकारों का अनुकरण भी दिन-दिन बढ़ रहा है। इस प्रकार आधुनिक हिंदी नाटक तेज़ी से आधुनिकता की ओर झुक रहे हैं।

एक स्थान पर इस बात का संकेत किया जा चुका है कि आधुनिक हिंदी-साहित्य का एक पैर अभी तक मध्ययुग में है। यह बात प्राचीन परिपाटी के नवीन काव्यग्रंथों से स्पष्टतया सिद्ध हो जाती है। आधुनिक ब्रजभाषा के अधिकांश काव्यग्रंथों में धार्मिकता तथा साहित्यिकता प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। रीति-ग्रंथों का भी लोप नहीं हुआ। अभी हाल ही में 'हरिऔध' ने 'रसकलश' के रूप में इस विषय पर एक बृहत् ग्रंथ हिंदी-साहित्यिकों के लिये प्रस्तुत किया है।

हिंदी-साहित्य का अध्ययन करनेवालों को एक बात विशेष रूप से खटकती है और यह राजनीति तथा समाज की ओर कवियों की उपेक्षावृत्ति। कवि अपने काल का प्रतिनिधि होता है। उसकी रचना में तत्कालीन परिस्थितियों के सजीव चित्र की अभिव्यंजना रहती है। किंतु जब हम इस दृष्टि से हिंदी-साहित्य, विशेषतया पद्यात्मक रचनाओं का सिंहावलोकन करते हैं तो हमें बहुत निराश होना पड़ता है। यह परिस्थिति कुछ-कुछ पहले भी थी और आज भी क़ायम है। सूरदास, नंददास आदि कृष्णभक्त तथा बाद के आचार्य कवियों के अध्ययन से यह स्पष्टतया परिलक्षित होता है कि मानो इन्हें देश, जाति तथा समाज से कोई वास्ता ही न था। मथुरा-वृंदावन आगरे के अत्यंत समीप हैं, किंतु देश की राजनीतिक समस्याओं का इन भक्त कवियों की रचना पर कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ा। हिंदियों तथा हिंदी-साहित्य दोनों के लिये दुर्भाग्य की बात है। जब हम मध्यकाल के मराठी

साहित्य का अनुशीलन करते हैं तो उसमें देश-प्रेम तथा जातीयता की भावना पर्याप्त मात्रा में पाते हैं। शिवाजी के राजनीतिक गुरु समर्थ रामदास में तो देश तथा जातीयता के भावों का बाहुल्य था। हिंदी के मध्ययुग में लाल तथा भूषण दो ही ऐसे प्रधान कवि हैं, जिनमें इस प्रकार के कुछ भाव विद्यमान हैं—यद्यपि इनका दृष्टिकोण अत्यंत संकीर्ण है। आज भी हिंदी के ललित साहित्य में राजनीति तथा समाज की उपेक्षा हो रही है। नाटकों, उपन्यासों तथा कहानियों में सामाजिक अंग पर अब कुछ प्रकाश पड़ने लगा है; किंतु हमारे आधुनिक कवि तथा लेखक राजनीतिक सिद्धांतों और समस्याओं की ओर न जाने क्यों आकृष्ट नहीं होते। इसके लिये देश की वर्तमान परिस्थिति को ही हम दोषी ठहराकर उन्मुक्त नहीं हो सकते। किसी भी देश के लिये यह अत्यंत आवश्यक है कि देश की संस्कृति के विविध अंगों तथा समस्त प्रमुख समस्याओं पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया जाय।

हिंदी-साहित्य में आगे चलकर कौन विचार-धारा प्रधान रूप से प्रवाहित होगी, इसे निश्चित रूप से बतलाना अत्यंत कठिन है; किंतु इतना तो अवश्य कहा जा सकता है कि उसकी वर्तमान अवस्था में अवश्य परिवर्तन होगा। देश में प्राचीन संस्कृति की नींव अभी गहरी है। अतएव नवीन नींव की हमें आवश्यकता नहीं। आज तो केवल इस बात की आवश्यकता है कि प्राचीन नींव पर ही हम नवीन सुदृढ़ भवन निर्माण करें।

घ—समाज तथा राजनीति

१—अध्यापिका-वर्ग

कुछ दिन पहले अपने देश में स्त्रियों के बीच में पढ़ना-लिखना विधवाओं का कार्य समझा जाता था और प्रारंभ में प्रायः था भी ऐसा ही। यदि कोई थोड़ा बहुत पढ़ना-लिखना जानने वाली स्त्री दुर्भाग्यवश विधवा हो जाती थी और फिर यदि परिवार में कोई अन्य संरक्षक न हुआ तो वह धीरे-धीरे कुछ और तरक्क़ी करके अध्यापिका का कार्य कर जीवन निर्वाह करने लगती थी। अपने देश के स्कूलों में अध्यापिका-वर्ग में बहुत बड़ा समुदाय इसी श्रेणी की स्त्रियों का है।

जब से कालेज और यूनिवर्सिटी में लड़कियाँ पहुँचने लगी हैं और धीरे-धीरे ऊँची पढ़ाई के लिये स्त्रियों की आवश्यकता पड़ने लगी है तब से 'कुमारियों' का एक नया वर्ग अपने देश में भी बनने लगा है। कालेज तथा यूनिवर्सिटी के अध्यापिका-वर्ग में प्रायः बड़ी उम्र की अविवाहिता 'कुमारियाँ' हैं अथवा ऐसी विवाहिता स्त्रियाँ हैं जिनका दांपत्य जीवन किसी कारण से सफल नहीं रह सका है।

मेरी समझ में अपनी कन्याओं की शिक्षा में एक सबसे बड़ी त्रुटि यह है कि उनकी अध्यापिकाएँ प्रायः विधवाएँ अथवा कुमारी-वर्ग की हैं। अध्यापक के रहन-सहन, आचार-विचार आदि का विद्यार्थियों पर, जाने और बिना जाने दोनों तरह से, कितना प्रभाव पड़ता है यह वे ही भली प्रकार जानते हैं जिन्होंने इस विषय का विशेष रूप से अध्ययन किया है। जिन कन्याओं को गृहिणी होना है उनके लिये विधवा अथवा कुमारी-वर्ग का आदर्श हितकर नहीं हो सकता।

छोटी-छोटी बातों पर इस तरह के आदर्शों का कुप्रभाव प्रकट होने लगता है। पचास रुपये पाने वाली वह अध्यापिका जिसके आगे पीछे कोई नहीं है कुल रुपया अपने ऊपर ख़र्च कर सकती है। साफ़ सुथरी तथा निर्द्वंद रहने वाली यह अध्यापिका कोमल मस्तिष्क वाली कन्याओं के लिये आदर्श-स्वरूप हो जाती है। किंतु भविष्य में विवाहिता हो जाने पर शायद ही किसी लड़की को अपनी अध्यापिका की तरह साफ़ सुथरी तथा निर्द्वंद रह कर अपने ऊपर पचास रुपये ख़र्च करने का अवसर मिल सके। स्कूल की पढ़ी लड़कियाँ यदि सफल गृहिणी न निकल सकें तो आश्चर्य की कोई बात नहीं है।

मैंने स्वयं अपने कानों से ऊँचे दर्जे की लड़कियों को कहते सुना है कि गृहस्थी झंझट है, बच्चे मुसीबत की चीज़ हैं, पति अथवा सास ससुर के अंकुश में रहना दुःसाध्य है। बहुतों को यह इच्छा प्रकट करते सुना है कि हमारे जीवन का आदर्श तो उच्च शिक्षा प्राप्त करके फ़लानी टीचरेस या हेडमिस्ट्रेस या लेडी प्रिंसिपल की तरह रहने और जीवन व्यतीत करने का है। इस तरह का आकर्षण स्वाभाविक है। जब ये कन्याएँ देखती हैं कि हमारी अध्यापिका नित्य एक नई साड़ी बदल कर आती हैं और माँ हफ़्ते में दो या एक बार ही मुश्किल से धोती बदल पाती हैं जो कभी उतनी साफ़ रह ही नहीं पाती; अध्यापिका की साड़ी, रूमाल तथा शरीर से सदा सुगंधि निकला करती है, माँ के हाथ और कपड़ों से हल्दी, मिर्च, मसाले की दुर्गंधि; अध्यापिका नित्य संध्या को बैडमिंटन खेलती हैं, माँ दफ़्तर से लौटे हुए बाबू जी को नाश्ता कराती हैं और रोते हुए भैया को चुपाती हैं; अध्यापिका सप्ताह में कम से कम एक बार मित्रों के साथ सिनेमा, थियेटर या पिकनिक पर जाती हैं, माँ बेचारी को पिछली सोमवती पर भी गंगा जी जाने को नहीं मिला था तब क्या आश्चर्य है कि लड़की विवाहिता माँ के आदर्श को छोड़कर कुमारी अध्यापिका जी को अपने जीवन का आदर्श बनाना चाहे और यदि सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से उसे ऐसी कुमारी-अध्यापिका अथवा विधवा-अध्यापिका न बनकर गृहस्थिन-माँ बनना पड़े तो उसका सारा जन्म दुःख में कटे।

अपनी कन्याओं की शिक्षा के संबंध में अध्यापिकाओं के आदर्श का यह प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। यदि इस ओर ध्यान नहीं दिया गया तो धीरे-धीरे लड़कियों की शिक्षा बढ़ने पर समस्त समाज को भारी धक्का पहुँच सकता है। मेरी समझ में सबसे पहली आवश्यकता इस बात की है कि अध्यापन के कार्य को विधवा और कुमारी-वर्ग का कार्य न समझ कर उत्तरदायित्व समझने वाली गृहस्थिन स्त्रियों का कार्य समझना चाहिए। बड़े बूढ़ों को अपनी पढ़ी-लिखी बहुओं को वैतनिक या अवैतनिक रूप में पढ़ाने का काम करने को भेजने में हिचकिचाहट नहीं होनी चाहिए, बल्कि उन्हें उत्साहित करना चाहिए। इस झूठी लज्जा के कारण अपनी लड़कियों के नैतिक आदर्शों में बहुत भारी पतन हो जाने का भय है जो समाज को समूल नष्ट कर सकता है।

हमारे लड़कों की संख्याओं में रंडुओं या निर्द्वंद जीवन व्यतीत करने के उद्देश्य से आजन्म अविवाहित रहने वाले अध्यापक कितने फ़ी सदी निकलेंगे?

२—स्वदेशी साम्यवाद

विदेशी वस्तुओं के समान अपने देश में विदेशी विचारों का भी आजकल दौर-दौरा है। अच्छी बात दुश्मन से भी सीख लेनी चाहिए। लेकिन शर्त यह है कि बात सचमुच अच्छी हो। मुसलमान काल में अपने यहाँ नवाबी का ज़ोर था, उसके बाद प्रजातंत्र राज्य की दुहाई रही और अब तो हर एक मर्ज़ का इलाज रूसी साम्यवाद समझा जाता है।

यह नहीं है कि अपने यहाँ साम्यवाद की भावना रही ही न हो, किंतु विदेशी मुलम्मे के मुक़ाबिले में स्वदेशी कुंदन को परख सकना कठिन है। स्वदेशी साम्यवाद की दो-चार प्रधान विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया जाता है।

अपने देश में साम्यवाद के मूल में अहिंसा का सिद्धांत था, हिंसा का नहीं। इसीलिये किसी भी परिस्थिति में राजा, साहूकार या ज़मींदार को मार कर, डाका डाल कर या छीन कर पराये माल को हथियाने की शिक्षा अपने यहाँ कभी भी नहीं दी गई। एक बार हिंसा के सिद्धांत को मान लेने पर उसे आपस में भी नहीं रोका जा सकता। भस्मासुर के समान वह सर्व-साधारण को भी भस्म किये बिना नहीं रह सकता।

अहिंसा के साथ ही स्वदेशी साम्यवाद में त्याग का दूसरा प्रधान् सिद्धांत माना गया था। सब आदमी शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक शक्तियों में बराबर नहीं हैं, न ज़बर्दस्ती बराबर रक्खे जा सकते हैं। एक बार बराबर कर देने पर भी कुछ लोग अपनी साधारण शक्ति तथा योग्यता के कारण आगे बढ़ जावेंगे। किंतु यह धर्म समझा जाता था कि जिसके पास अधिक बल या अधिक धन या अधिक विद्या हो जावे वह स्वयं उसे दूसरों के लिये त्याग दे। अमीरों का धर्मशालाएँ बनवाना, कुएँ तालाब निर्मित करना, सदाव्रत बाँटना आदि इसी सिद्धांत के अंतर्गत था। त्यागी को भोगी की अपेक्षा अपने देश में सदा ऊँचा समझा गया है। इसी शिक्षा के कारण तो आज भी बड़े से बड़े राजा की अपेक्षा अपने देश की जनता के हृदय में महात्मा गांधी का अधिक मान है।

इस दूसरे सिद्धांत के परिणाम-स्वरूप तीसरा सिद्धांत दान का था। छिनवा कर नहीं बल्कि दिलवा कर अपने यहाँ समाज में समानता उपस्थित की

जाती थी। इसका सबसे प्रसिद्ध उदाहरण सम्राट् हर्षवर्धन का है जो प्रयाग में हर बारह वर्ष बाद सब कुछ दान कर देता था। अपने प्राचीन ग्रंथ दान की महिमा से भरे पड़े हैं। इसके मूल में हमारे साम्यवाद का रहस्य छिपा है। यों दान का दुरुपयोग भी हुआ है और हो रहा है किंतु किसी अच्छी वस्तु का दुरुपयोग नहीं हो सकता है।

स्वदेशी साम्यवाद का चौथा मूल सिद्धांत मनुष्य क्या प्राणी मात्र तथा भूत मात्र की एकता की भावना में सन्निहित है। धन संबंधी तथा सामाजिक प्रतिबंध संबंधी भेदों के रहते हुए भी मनुष्य मात्र को सम्मान की दृष्टि से देखना और उसे उचित आदर प्रदान करना अपने साम्यवाद की विशेषता थी। इसी के फलस्वरूप अभी दस पाँच वर्ष पहले तक गाँवों में मेहतरों में बाबा और चमारिनों में अम्मा होती थीं और वास्तविक सुख दुःख में समस्त ग्रामीण समाज एक होता था। नित्यप्रति के साधारण जीवन में भी अमीर-ग़रीब में भारी अंतर नहीं रहता था। ज़मींदार साहब भी चारपाई पर बैठते हैं, और किसान भी। सब के लिये कोच का प्रबंध तो दुस्तर है।

यह सच है कि विशेष परिस्थितियों के कारण अपने देश की समस्त संस्थाएँ इस समय नष्ट-भ्रष्ट हो गई हैं और यही अवस्था अपने स्वदेशी साम्य-वाद की भी है। अपने विशुद्ध स्वरूप में आज वह देखने को नहीं मिल सकता। किंतु आज भी वह आसानी से पुनर्जीवित किया जा सकता है। यदि अपने देश के साम्यवादी स्वदेशी साम्यवाद के सिद्धांतों का एक बार अध्ययन करें और जो कुछ भी बचा-खुचा वह व्यवहार में मिलता है उसे समझने का यत्न करें तो यह निश्चय है कि वे उसे विदेशी साम्यवाद की अपेक्षा कहीं ऊँचा और व्यावहारिक पावेंगे। यह स्वदेशी कुम्हलाया हुआ पौधा जितनी आसानी से हरा-भरा किया जा सकता है, उतनी आसानी से विदेशी पौधा इस जलवायु में नहीं लगाया जा सकता।

लेकिन यह हो तभी सकता है जब हम नक़लची न होकर अपने मस्तिष्क से सोचना प्रारंभ करें तथा स्वदेश और अपनी संस्कृति में हमारी आस्था हो। विदेशी शिक्षा और विदेशी अनुकरण ने हमें विचारों के क्षेत्र में ग़ुलाम बना दिया है। स्वदेशी शिक्षा और स्वदेश का अनुकरण हमें इस ग़ुलामी से मुक्त कर सकता है।

३—क्या असहयोग उठा लेने का समय आ गया है ?

लेख का शीर्षक कुछ भ्रामक है। असहयोग से तात्पर्य यहाँ कांग्रेस के पिछले दिनों के राजनीतिक असहयोग आंदोलन से नहीं है, वह तो लगभग उठ चुका है, बल्कि उस विशाल सामाजिक असहयोग से है जिसे भारतीयों ने आत्मरक्षा के निमित्त विदेशियों से लगभग एक सहस्र वर्ष पूर्व प्रारंभ किया था और जो देशव्यापी रूप में आज भी चल रहा है। संसार के इतिहास में इतने विस्तृत तथा दीर्घकालीन असहयोग का कोई भी दूसरा उदाहरण नहीं मिलता है। प्रश्न यह है कि क्या इस असहयोग को उठा लेने का समय आ गया है ? इस प्रश्न का उत्तर तभी ठीक दिया जा सकता है जब इस साधारण उपचार के कारणों तथा रोग के लक्षणों को ठीक-ठीक समझ लिया जाए। इसके लिये अपने देश के मध्यकालीन इतिहास पर एक दृष्टि डालने की आवश्यकता है।

अपनी संस्कृति के इतिहास में १,००० ईसवी के लगभग एक अभूतपूर्व संकट आया था। देश के इतिहास में पहली बार अपना शासक-वर्ग विदेशियों से इस तरह पराजित हुआ कि देश के राजनीतिक शासन की बागडोर धीरे-धीरे विदेशियों के हाथों में स्थायी रूप से चली गई। प्रत्येक देश की स्वाभाविक परिस्थिति में प्रजा की सामाजिक, धार्मिक तथा साहित्यिक संस्कृति की रक्षा और विकास राज्य की संरक्षिता में होता है। किंतु यह तभी संभव है जब स्व-राज्य हो—शासक-वर्ग तथा प्रजागण एक ही संस्कृति के उपासक हों। १,००० ईसवी के पूर्व देश में किसी भी तरह का राज्यतंत्र रहा हो, किंतु शासक तथा शासित में संस्कृति संबंधी ऐक्य बराबर रहा है। हमसे पूर्व की आक्रमणकारी विदेशी जातियों तक ने जातीय संस्कृति को शीघ्र ही ग्रहण कर लिया था, अतः कनिष्क, तोरमण जैसे विदेशी शासक भी संस्कृति की दृष्टि से भारतीय थे। भारतवर्ष के अब तक के इतिहास में देशव्यापी दीर्घकालीन विदेशी शासन कभी स्थापित नहीं हुआ—अस्थायी आक्रमण अवश्य हुए।

१,००० ईसवी के बाद देशवासियों को बिलकुल नई परिस्थितियों का

सामना करना पड़ा। पहली बार हम लोगों का राज्यतंत्र ऐसा नष्ट हुआ कि सैकड़ों वर्षों तक—आज तक—अपने हाथों में शासन की बागडोर न लौट सकी। फिर हमारे इन विदेशी शासकों की संस्कृति तथा हमारी संस्कृति के दृष्टिकोण में आकाश-पाताल का अंतर था। राष्ट्र की पाचन-शक्ति कुछ ऐसी बिगड़ चुकी थी, अथवा कहिए कि विष कुछ ऐसा तीव्र था कि देश इस नई वाह्यागत सामग्री को पचा डालने में पहली बार असमर्थ सिद्ध हुआ। हमारे नए विदेशी शासकों का धर्म, सामाजिक आदर्श, साहित्य, भाषा—सब कुछ हमसे भिन्न था और वे अपनी इस अभारतीय संस्कृति को ज्यों का त्यों हमारे गले उतारना चाहते थे। वास्तव में अपनी संस्कृति को इससे अधिक विकट संकट का सामना कभी भी नहीं करना पड़ा था। राज्यदंड ही देश की संस्कृति का नियामक होता है, इस नई परिस्थिति में राज्यदंड हमारी संस्कृति का विनाशक था।

इस असाधारण परिस्थिति में—विशेषतया अपने राज्यों के नष्ट हो जाने के कारण—बची-खुची संस्कृति की रक्षा का भार स्वयं जनता पर आ पड़ा और उसे आत्मरक्षा का कार्य भी अपने हाथ में लेना पड़ा। विदेशियों से राज्यशक्ति छीनने का प्रयत्न चलता रहा, किंतु कुछ कारणों से उसमें निकट भविष्य में पूर्ण सफलता होती नहीं दिखलाई पड़ी। ईरान आदि की तरह शासक-वर्ग के पराजित होने के साथ आत्मसमर्पण करने से हमारे देश ने इंकार किया और अपनी असाधारण प्रतिभा के द्वारा असहयोग रूपी एक नए अस्त्र का आविष्कार किया जिसकी सहायता से भारत की आत्मा आज तक भी नष्ट होने से बची है। सेना के प्रधान संचालक के मारे जाने पर सेना के लिये प्रायः एक ही रास्ता रह जाता है—हथियार रख देने का। किंतु हमारी जनता रूपी सेना ने हथियार रखना सीखा ही नहीं था, इसलिये प्रत्येक खाई में पड़ी हुई टुकड़ी ने अपना प्रबंध अपने हाथ में लेकर सत्याग्रह के रूप में युद्ध जारी रखने का अटूट निर्णय किया। बहुत कम लोग यह बात जानते हैं कि वर्तमान काल में प्रचलित उपजातियों का जन्म तथा संगठन अपने देश में इसी काल में हुआ था और इस नए सामाजिक संगठन का मुख्य उद्देश्य अपने अराजक राष्ट्र की रक्षा करना था।

साधारणतया एक विशाल देश की सामाजिक तथा धार्मिक व्यवस्था की देखरेख के लिये केंद्रीय सुव्यवस्थित शासन की आवश्यकता पड़ती है।

किंतु जनता की पहुँच—विशेषतया विदेशी शासन युग में—दूर तक नहीं हो सकती थी। इसीलिये समाज के संचालन कार्य को छोटी-छोटी टुकड़ियों से बाँटना पड़ा। इन टुकड़ियों के बनाने में दो सिद्धांत रक्खे गए। पहला, स्वाभाविक छोटे-छोटे प्रादेशिक विभाग, जिनके कारण उपजातियों के कान्यकुब्ज, माथुर, सरयूपारीण, श्रीवास्तव, सकसेना आदि नाम पड़े। दूसरा, प्रत्येक प्रदेश में रहनेवाली जनता का व्यवसाय के आधार पर विभाग जिसके कारण इन प्रादेशिक नामों के साथ ब्राह्मण, कायस्थ, वैश्य, किसान, तेली, कुम्हार आदि नाम जोड़े गए। इस तरह दूसरे शब्दों में भिन्न-भिन्न प्रदेशों के पेशों की पंचायतों के हाथ में देश की सामाजिक और धार्मिक व्यवस्था आ गई। आपत्तिकाल के नियमों का भिन्न होना स्वाभाविक है।

यह मानना पड़ेगा कि बिरादरियों की पंचायतों के द्वारा कभी-कभी अन्याय भी हुए। मार्शल-ला के कोर्ट के फ़ैसलों की तुलना हाई कोर्ट के गंभीर फ़ैसलों से नहीं की जा सकती। किंतु साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि मुख्य उद्देश्य अर्थात् आत्मरक्षा करने में समाज सफल रहा, नहीं तो ईरान, टर्की आदि के समान भारत में भी देश को संस्कृति की दुहाई देने वाला आज कोई भी दिखाई नहीं पड़ता। इस नए समाजतंत्र का क़ानून बहुत सरल था—अभारतीय संस्कृति से पूर्णतया सामाजिक असहयोग। इस नियम के तोड़ने वालों के लिये समाज ने दो प्रकार के दंड नियत किये थे—साधारण जुर्म के लिये अपराधी व्यक्ति अथवा वर्ग से खाने-पीने का संबंध-विच्छेद—'हुक्का-पानी बंद।' भारी अपराध करने वालों का समाज से पूर्ण बहिष्कार, अर्थात् विवाह-संबंध-विच्छेद। देश की वर्तमान उपजातियों में प्रचलित रोटी-बेटी की समस्या के पीछे वास्तव में समाज का इस काल में बनाया हुआ दंड-विधान सन्निहित है। विशेष परिस्थितियों में प्रायश्चित कर लेने पर दंड वापस भी ले लिया जाता था और वह व्यक्ति या वर्ग फिर समाज में शामिल कर लिया जाता था।

धीरे-धीरे एक अन्य विचित्र संगठन-क्रम समाज में दिखलाई पड़ने लगा। बिरादरियों की इन टुकड़ियों ने विदेशियों से असहयोग प्रारंभ किया था, किंतु कुछ समय बाद इन टुकड़ियों में आपस में भी एक प्रकार का असहयोग सिद्धांत विकसित हो गया। बरसों तक खाइयों में पड़े रहने वाले सिपाही, दूर की खाइयों के अपने ही सिपाहियों के बारे में संदिग्ध हो सकते हैं और धोखा

खाने के भय से किसी को भी अपनी खाई में न घुसने देने का सिद्धांत बना सकते हैं। अपनी समाज में बिरादरियों अथवा उपजातियों का यह क्रम जो लगभग हज़ार वर्ष पूर्व प्रारंभ किया गया था आज भी क्षीण रूप में चल ही रहा है। नई रोशनी में पले नवयुवक देश की समस्त बुराइयों और कमज़ोरियों का कारण इस जात-पाँत को समझते हैं। उन्होंने अपने देश के इतिहास को ठीक रूप में नहीं पढ़ा, नहीं तो वे संक्रामक रोग से पीड़ित बालक के संबंध में माता के नियंत्रण में केवल बुराई ही नहीं देखते। तो भी यह प्रश्न उचित ही है कि—क्या अब भी इस असहयोग को इसी रूप में जारी रखने की आवश्यकता है? क्या इस बीसवीं शताब्दी में इस असहयोग सिद्धांत से लाभ की अपेक्षा हानि तो अधिक नहीं हो रही है? क्या असहयोग उठा लेने का समय अब नहीं आ गया है?

वास्तव में प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण है। प्रश्न के उत्तर के संबंध में मतभेद होना स्वाभाविक है। सच तो यह है कि विशेषज्ञों द्वारा इस प्रश्न पर अभी तक गंभीरतापूर्वक विचार ही नहीं हुआ है। एक ओर अपने समाज में परिमित दृष्टि रखनेवालों कट्टर लोगों का एक वर्ग है जो यह समझता है कि वर्तमान बिरादरियों और उनके चौका-चूल्हे तथा रोटी-बेटी आदि के नियम अपने देश में वैदिक काल से चले आ रहे हैं। अतः इनमें लौट-पौट करना संस्कृति के मूल पर कुठाराघात करना होगा। दूसरी ओर केवल पश्चिम की जूठन पर पले उतावले अंग्रेज़िया लोगों का वर्ग है जो इन समस्त सामाजिक नियंत्रणों को मूर्खता, पाखंड तथा बुद्धिहीनता का दूसरा रूप समझता है। देश के मुट्ठी भर विद्वानों का वर्ग राजनीति, साहित्य, विज्ञान तथा भाषा-संबंधी प्रश्नों के सुलझाने में तो अग्रसर है, किंतु समाज के जीवन मरण से संबंध रखनेवाले प्रश्नों के प्रति उदासीन है। कम से कम इन प्रश्नों को वह वैसा महत्व नहीं दे रहा है जैसा उसे देना चाहिए। किन्हीं दो चार व्यक्तियों के द्वारा बिना समझे-बूझे मनमाने ढंग से खाना-पीना आरंभ करने से अथवा विवाह-शादी कर लेने से समाज की समस्या सुलझ न सकेगी, कदाचित् कुछ अधिक जटिल ही हो सकती है। आवश्यकता इस बात की है कि समाज के अग्रणी समझ-बूझकर नया समाज विधान बनावें और उसे चलवाने का यत्न करें। संभव है आरंभ में यह विधान उतना सुधरा हुआ न हो सके जितना कि जोशीले सुधारक चाहें, किंतु तो भी यह मध्यम मार्ग समाज मात्र के लिये

अधिक हितकर सिद्ध हो सकेगा। देश काल के अनुसार समाज का पुनर्संगठन आरंभ करने का समय आ गया है, इतना निश्चित है।

इस प्रश्न के उत्तर पर प्रकाश डालने वाले तथा इस महत्वपूर्ण समस्या को सुलझाने वाले में सहायक कुछ तथ्यों का दिग्दर्शन नीचे कराया जाता है। यह विवेचन व्यक्तिगत है और केवल विचार-विनिमय की दृष्टि से उपस्थित किया जा रहा है—

१—अपनी समाज की वर्तमान बिरादरियों का जो इतिहास ऊपर दिया गया है यदि वह काल्पनिक नहीं है तो उन्हें तोड़ने के पूर्व यह स्मरण रखने की आवश्यकता है कि आज भी देश का शासन अपने हाथ में नहीं आ पाया है। हमें यह आशा आज भी नहीं है कि संस्कृति की रक्षा हमारे नवीन शासक कर सकेंगे। यह अवश्य है कि १४वीं अथवा १६वीं शताब्दी के राज्यतंत्र की अपेक्षा देश का आज का शासनतंत्र अधिक उदार है। तो भी संस्कृति की रक्षा का उत्तरदायित्व आज भी समाज के ही ऊपर है। देश में स्वराज्य न होने के कारण हम उसे शासकों के हाथ में आज भी नहीं सौंप सकते। अतः कदाचित् मार्शल-ला को पूर्ण हटाने का समय अभी भी नहीं आया है, यद्यपि अधिक कठिन नियमों को शायद कुछ सरल किया जा सकता है। इस संबंध में भी अफ़सरों की कमेटी ही निर्णय दे सकती है। अभी अपने हाई कोर्ट तो हैं नहीं।

२—अपनी संस्कृति की रक्षा के लिये जिस विदेशी संस्कृति से हमने असहयोग प्रारंभ किया था उसका दृष्टिकोण भी आज तक विदेशी ही बना हुआ है—एक हज़ार वर्ष में भी उसने भारतीयता को ग्रहण नहीं किया। बल्कि इधर तो उसने अभारतीय अंगों को फिर से तीव्र करना प्रारंभ किया है। अब अंत में हार मान कर अपनी संस्कृति को छोड़ने को हम उद्यत हों तो बात दूसरी है, नहीं तो इस विदेशी संस्कृति के साथ संघर्ष दूर होने की निकट भविष्य में अभी भी विशेष संभावना नहीं मालूम होती। कदाचित् आवश्यकता इस बात की है कि भारतीय संस्कृति के उपासकों को अपने समाज को अब अधिक बड़े पैमाने पर सुसंगठित करना चाहिए। आपस के असहयोग को न्यूनतम कर देने का समय कदाचित् आ गया है। इस प्रकार अपने पक्ष की शक्ति बढ़ जाने पर यह संभव है कि विरोधी संस्कृति का दृष्टिकोण कुछ अधिक सहानुभूति-पूर्ण हो सके।

३—मध्ययुग में देश के भिन्न-भिन्न प्रदेशों तथा वर्गों का आपस के संपर्क में आना दुस्तर था, किंतु इस बीसवीं शताब्दी के रेल, मोटर, तार, डाक तथा हवाई जहाज़, रेडियो के युग में अधिक बड़े वर्गों का शीघ्र सुसंगठित किया जा सकना उतना कठिन नहीं है—कदाचित् आवश्यक है। छोटी-छोटी बिरादरियों के वर्ग या उपवर्ग मिला कर अधिक बड़े रूप ग्रहण कर सकते हैं। ये वर्ग किस प्रकार से मिलाए जावें इस संबंध में खोज और गंभीरता-पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है—पंजाबी ब्राह्मण और बंगाली ब्राह्मण एक दूसरे से विवाह संबंध करने लगें, या पंजाबी ब्राह्मण और पंजाबी खत्रियों को एक दूसरे के निकट आना चाहिए, अथवा बंगाली ब्राह्मण से लेकर बंगाली चमार तक सब एकमेक हो जावें? नसल और संस्कृति के इतिहास के विशेषज्ञ ही इन समस्याओं पर उचित प्रकाश डाल सकते हैं। वास्तव में सामूहिक रूप से सामाजिक नियमों में परिवर्तन करने के पूर्व इस संबंध में पूर्ण खोज तथा उचित पथ-प्रदर्शन की आवश्यकता है।

४—यह मानना पड़ेगा कि इधर कुछ दिनों से अपनी सेना में मानसिक निर्बलता प्रारंभ हो गई है। हमारी बिरादरिएँ अथवा मार्शल-ला कोर्ट्स आज उतनी सुसंगठित और शक्तिशाली नहीं रही हैं, जितनी पचास वर्ष पूर्व थीं। कुछ तो उनके बनाए नियम देश काल के उपयुक्त नहीं रहे हैं अतः उन पर चलना कठिन हो गया है। फलतः सिपाही कभी-कभी नियमों को मानने से इंकार कर देते हैं और समाज अपनी कमज़ोरी के कारण उन पर दंड-विधान लागू करने में असमर्थ हो जाता है। नियमों में सुधार करना तो अवश्य है किंतु साथ ही किसी न किसी प्रकार का सामाजिक शासन तो समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति को मानना ही पड़ेगा। प्रत्येक व्यक्ति के शासन-व्यवस्था को अपने हाथ में ले लेने से तो कोई भी समाज नहीं चल सकता। अपने समाज में प्रचलित खान-पान, शादी-विवाह, रहन-सहन आदि के नियमों में आवश्यक परिवर्तन अवश्य करने चाहिए, किंतु एक नियम हटाने पर दूसरे नियम लाने पड़ेंगे—उच्छृंखलता लाने से काम नहीं चल सकेगा। नियमों में संशोधन करते समय यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि अमुक नियम भारतीय संस्कृति के अनुयायियों के आपस के व्यवहार के लिये हैं और अमुक नियम विदेशियों के साथ व्यवहार करने के लिये हैं। इसी तरह स्वदेश में रहने वालों के नियम तथा विदेश में स्थायी

अथवा अस्थायी रूप से जाने वालों के नियमों में अंतर करना पड़ेगा। जो हो, समाज का प्रत्येक अंग नई परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तित तो किया जाना चाहिए, किंतु साथ ही नियम तथा सुव्यवस्था को तिलांजलि नहीं दी जा सकती।

५—उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त अपनी संस्कृति के मूल सिद्धांतों तथा गौण सिद्धांतों को सुथरे ढंग से अलग-अलग करके समझ लेने की आवश्यकता है। आपत्तिकाल में लोगों ने काँच के टुकड़ों और हीरों को एक में मिला कर रख लिया था। प्रत्येक व्यक्ति जौहरी नहीं होता इसलिए प्रायः लोग दोनों में अंतर नहीं कर पाये—अकसर लोग हीरों को छोड़कर काँच के टुकड़ों को मुट्ठी में दबाये बैठे हैं। किंतु अब देश की विपत्ति की लंबी रात बीत चुकने पर उदय होने वाले सूर्य के धुँधले प्रकाश में काँच और मणियों को छाँटा जा सकता है।

वास्तव में अपने समाज के पुनर्निर्माण की समस्या अत्यंत महत्वपूर्ण है। राजनीतिक स्वतंत्रता के युद्ध, साहित्यिक मनोविनोद, और पेट भरने के कार्यों के साथ-साथ इसे भी हाथ में लेना होगा। समाज को सुसंगठित करने पर एक बार फिर विशाल शक्ति तैयार हो सकती है, और तब अपनी संस्कृति की पूर्ण विजय निश्चित है। जो हो एक सहस्र वर्ष से अलग-अलग खाइयों में में पड़े-पड़े लड़ने वाले अपने निकट सिपाहियों के साथ विश्वासघात तो नहीं किया जा सकता ?

४—हमारे प्रांत की कुछ समस्याएँ

संयुक्त-प्रांत का वातावरण कुछ ऐसा है कि यहाँ के रहने वाले संसार के संबंध में तो सोचते हैं, भारत के संबंध में भी सोच सकते हैं, किंतु फिर उससे उतर कर एकसाथ अपने शहर या गाँव अथवा बिरादरी या धंधे के संबंध में सोचने लगते हैं। अपने प्रांत के अस्तित्व को जितना इस प्रांत के लोगों ने भुला रक्खा है, उतना भारत के किसी भी अन्य प्रांत ने नहीं भुलाया है। हमारे प्रांत में जो भी काम होता है, वह "अखिल भारतवर्षीय" दृष्टिकोण से होता है। प्रांतीयता का भाव साधारणतया आता ही नहीं है और यदि कभी आता भी है, तो उसे संकुचित भावना कहकर दुरदुरा दिया जाता है। वास्तव में इस उपेक्षा का कारण हमारा अज्ञान है।

भारतवर्ष के प्रांत संसार के अन्य भागों के देशों के समान हैं। उदाहरण के लिये अपना संयुक्त-प्रांत ही लीजिये। यह योरप अथवा एशिया की किसी भी महान् शक्ति से जन-संख्या अथवा क्षेत्रफल में घटकर नहीं है। संयुक्त-प्रांत की तुलना इन बातों में फ्रांस, जर्मनी, इटली, इंगलैंड, जापान तथा टर्की आदि किसी से भी की जा सकती है। सच पूछिए, तो हमारे लिये सच्चा देश तो हमारा प्रांत ही है। हमारा जीवन प्रांत के वातावरण में ही ओतप्रोत रहता है। भारतवर्ष अथवा संसार के संबंध में तो हम लोग कभी-कभी समाचार-पत्रों या पुस्तकों में पढ़ लेते हैं। ऐसी स्थिति में प्रांत के संबंध में इतनी उपेक्षा क्यों? व्यक्ति तथा संसार के बीच में देश या प्रांत स्वाभाविक माध्यम है और इसकी उपेक्षा बिना अपने को हानि पहुँचाए नहीं की जा सकती।

हमारे प्रांत की सभी समस्याएँ उलझी पड़ी हैं, क्योंकि काव्य-चर्चा तथा भारतीय राजनीतिक चाट के आगे हम लोगों ने इस ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया है। सबसे पहली समस्या प्रांत के नाम की है। अपने प्रांत के इस आवश्यक संस्कार के संबंध में हम लोगों ने अभी विचार तक नहीं किया है। अपने धर्म में मनुष्य के संस्कारों में नामकरण एक मुख्य संस्कार है, जो जन्म के बाद शीघ्र ही किया जाता है। शौक़ीन लोग कुत्तों को 'पीटर' तथा अपने साधारण मकान को 'लक्ष्मीनिवास' से नीचा नाम देना नहीं पसंद करते। लेकिन प्रांत के नाम के संबंध में वही सनातनी उपेक्षा!

बंगाली का अपना प्रांत बंगाल है, पंजाबी का पंजाब, गुजराती का गुजरात, उड़िया का उड़ीसा, सिंधी का सिंध, आसामी का आसाम; लेकिन हमारा प्रांत है "आगरा व अवध का संयुक्त-प्रांत" अथवा "यू० पी०", जिन नामों को न तो हमारे बच्चे, स्त्रियाँ, गाँववाले अथवा साधारण लोग समझ ही सकते हैं और न सुविधा से ले ही सकते हैं। फिर हम अपने को क्या कहें 'संयुक्त-प्रांती' या 'यू० पी० वाले' ? मैं भूल गया, हम लोग तो 'भारतवासी' हैं। प्रांत के नाम पर हम अपना नाम क्यों रक्खें। दूसरे प्रांतवालों के यदि बंगाली, सिंधी, गुजराती, पंजाबी आदि सुबोध नाम हैं, तो इससे क्या। सच तो यह है कि भारतवर्ष के स्वाभाविक प्रदेशों में एक हमारा ही प्रदेश ऐसा है, जिसके न तो रहनेवालों का ही कोई ठीक नाम है और न जिसके प्रांत का ही कोई उचित नाम है।

इस त्रुटि को दूर करना कठिन नहीं है। एक नाम ऐसा मौजूद है जिससे दूसरे प्रांत के रहनेवाले प्रायः हमें पुकारा करते हैं। हम भी अपने को कभी-कभी उस नाम से पुकार लेते हैं, विशेषतया जब हम अपने को अन्य प्रांतवालों से पृथक् करना चाहते हैं। यह नाम है "हिंदुस्तानी"। मुसलमान काल से 'हिंदुस्तान'-शब्द का प्रयोग विशेषतया गंगा की घाटी के पश्चिमी भाग के लिये होता रहा है। कुछ दिनों से हम लोग हिंदुस्तान-शब्द का प्रयोग उत्तर-भारत तथा संपूर्ण भारत के अर्थ में भी करने लगे हैं। यदि इस शब्द का प्रयोग फिर मूल-अर्थ में करने का हम लोग निश्चय कर लें तो हमें बहुत सुभीते से अपना तथा अपने प्रांत दोनों का सर्व-प्रिय तथा सुबोध नाम मिल सकता है। 'यू० पी०' नाम का संस्कार करके इसका नाम "हिंदुस्तान" प्रांत रख दिया जाय, यहाँ के रहने वाले 'हिंदुस्तानी' कहलाएँ और यहाँ की भाषा 'हिंदुस्तानी' नाम से पुकारी जा सकती है। जिसके 'हिंदी' और 'उर्दू' दो साहित्यिक रूप हैं। बंगाल बंगाली, पंजाब पंजाबी, गुजरात गुजराती, सिंध सिंधी के टक्कर का जोड़ हिंदुस्तान हिंदुस्तानी में मिलता है। संयुक्त-प्रांत तथा यहाँ के निवासियों के नाम के संबंध में यह प्रस्ताव विचारार्थ है। यदि इससे भी अधिक सुबोध तथा सर्व-प्रिय नाम मिल सके, तो और भी अच्छा है।

हमारे प्रांत की दूसरी समस्या उसकी सीमाओं के संबंध में है। सरकारी 'आगरा व अवध के संयुक्त-प्रांत' की सीमाएँ निर्धारित हैं किंतु इस संबंध में

कुछ दिनों से तरह-तरह की कठिनाइयाँ उपस्थित हो रही हैं। कांग्रेस ने अपने प्रांत की मेरठ कमिश्नरी को दिल्ली-प्रांत में डाल दिया और अपने यहाँ किसी के कान पर जूँ तक न रेंगी। सरकारी ढंग से भी मेरठ-कमिश्नरी का दिल्ली में डाल देने के लिये एक बार एसेंबली में प्रस्ताव आने वाला था किंतु हमारे प्रांत के किसी भी पत्र में इस संबंध में कुछ भी विचार नहीं हुआ।

"वसुधैव कुटुंबकम्" आदर्श रखने वाले लोगों के लिये एक कमिश्नरी के घटने-बढ़ने का पता चलना मुश्किल है। प्रांत के अंदर ही अवध और आगरे के प्रश्न को अक्सर छेड़ दिया जाता है और इस संबंध में अवध के लोगों में कुछ हलका-सा चाव आ जाया करता है। उड़ीसा अलग हो जाने पर विहार के लोगों की धारणा है कि बनारस तथा गोरखपुर-कमिश्नरी का कुछ भाग उस कमी को पूरा करने के लिये मिलने में कठिनाई नहीं पड़ेगी। संयुक्त-प्रांत के उनके भाइयों का दिल बड़ा उदार है। फिर बनारस-गोरखपुर का भाग, सच पूछिए तो, न अवध में है और न आगरे में ही। हिंदुस्तानी मध्य-प्रांत के राजनीतिज्ञों की निगाह झाँसी-कमिश्नरी पर लगी हुई है, क्योंकि यदि कभी मराठी मध्य-प्रांत अलग हुआ, तो इस दुःखदायी साझेदार की कमी को संयुक्त-प्रांत के झाँसी, बाँदा, हमीरपुर, जालौन के जमुना पार के ज़िलों को मिलाकर ही किया जा सकता है।

आगे-पीछे ये सब बातें एक-एक करके अवश्य उठेंगी। किंतु हम लोगों ने क्या कभी इन समस्याओं पर विचार किया है? हम लोग इस 'संयुक्त-प्रांत' के कितने टुकड़े करना चाहते हैं तथा इनमें से कितने टुकड़े अपने पड़ोसियों को दे देना चाहते हैं? हमारे हित या अहित की दृष्टि से हमारे प्रांत की सीमाएँ क्या रहनी चाहिए? हम 'हिंदुस्तानियों' के (इस शब्द का प्रयोग मैंने अपने अर्थ में ही किया है) भविष्य की दृष्टि से ये प्रश्न अत्यंत महत्वपूर्ण हैं, इसमें तो कोई संदेह ही नहीं है। हमारे समाचार-पत्रों तथा मासिक-पत्रिकाओं में कितने लेख इस संबंध में अब तक निकले हैं? अपने प्रांत के संबंध में हमारी उपेक्षा फिर स्पष्ट हो जाती है।

मेरी समझ में भारत को प्रांतों में विभक्त करने के लिये कांग्रेस का सिद्धांत अत्यंत युक्ति-संगत है। कांग्रेस के सिद्धांत के अनुसार एक भाषा बोलनेवाले जन-समुदाय का एक प्रांत होना चाहिए। कांग्रेस ने भारत का प्रांतीय विभाग इसी सिद्धांत के आधार पर किया है। केवल हिंदी-भाषी लोगों

के संबंध में इस नियम का पालन नहीं किया गया है, क्योंकि यहाँ के लोगों ने कदाचित् अपनी इच्छा ही नहीं प्रकट की। यदि पंजाब को छोड़ भी दिया जाय, तो भी इस सिद्धांत के अनुसार संयुक्त-प्रांत, बिहार, हिंदुस्तानी मध्य-प्रांत, दिल्ली तथा अजमेर का एक प्रांत हो जाना चाहिए, क्योंकि कांग्रेस के रजिस्टर के अनुसार भी इन सब प्रदेशों की व्यावहारिक भाषा एक हिंदुस्तानी ही है। मैं स्वयं बिहार तथा राजस्थान को भी पृथक् प्रांतों के रूप में रखना अनुचित नहीं समझता, क्योंकि जैसलमेर से भागलपुर तक का एक प्रांत सोचने की अभी हम लोगों में शक्ति नहीं है। किंतु दिल्ली-कमिश्नरी, संयुक्त-प्रांत तथा हिंदुस्तानी मध्य-प्रांत का एक में मिल जाना मुझे सब तरह से स्वाभाविक तथा सिद्धांत के अनुकूल प्रतीत होता है। मेरी राय में संयुक्त-प्रांत की सीमाएँ संकुचित करने के बजाय इन्हें बढ़ाने की आवश्यकता है। यदि संभव हो तो समस्त हिंदी-भाषी प्रदेशों का एक प्रांत के रूप में सुसंगठित होना अधिक हितकर होगा। आवश्यकता इस बात की है कि अपने प्रांत के लोग इस सीमा-संबंधी समस्या पर ख़ूब अच्छी तरह विचार करके अपना मत निर्धारित करें।

अपने प्रांत की एक तीसरी मुख्य समस्या हिंदी-उर्दू की है। हम लोग हिंदी को अखिल भारतवर्ष की राष्ट्रभाषा बनाने के संबंध में सतत उद्योग कर रहे हैं। इसके लिये मदरास में हिंदी-प्रचार कर रहे हैं, आसाम में हिंदी-प्रचार कर रहे हैं, सिंध में हिंदी-प्रचार कर रहे हैं, किंतु स्वयं अपने प्रांत में हिंदी-प्रचार के संबंध में हमने कितना उद्योग किया है। एक बेचारी नागरी-प्रचारिणी सभा कभी-कभी अदालतों में उर्दू के स्थान में हिंदी को रखने के लिये कुछ कर-धर लेती है, किंतु उसके उद्योग की मात्रा समुद्र में बूँद की तरह है। अपने प्रांत के समस्त पश्चिमी भाग में आज भी उर्दू का आधिपत्य है। मदरास और आसाम में हिंदी-प्रचार करने के पूर्व अपने घर के अंदर की इस द्विभाषा-समस्या को सुलझा लेना अधिक आवश्यक है। किंतु अन्य प्रांतीय समस्याओं की तरह इस ओर भी हम प्रांतवासी कुछ भी ध्यान नहीं दे रहे हैं।

अपने प्रांत की अनगिनती समस्याओं में से दो-तीन को बानगी की तरह मैं यहाँ हिंदी-भाषी जनता के सामने रख रहा हूँ। आशा तो यही है कि इस संकुचित किंतु व्यावहारिक विचारपरिधि के अंतर्गत अपने देशवासियों को ला

सकूँगा। किंतु निराशा का भी कोई कारण नहीं है, क्योंकि आवश्यकता मनुष्य से सब कुछ करा लेती है। नवीन परिस्थिति धीरे-धीरे ऐसी होती जा रही है कि जो संसार तथा भारत के साथ-साथ अपने प्रांत के संबंध में भी आगे-पीछे सोचने को हमें मजबूर करेगी। कदाचित् ये विचार भी इस नवीन परिस्थिति के ही द्योतक हैं।

५—सिंध अब हिंद कब ?

पिछले दिनों सिंध का स्वतंत्र प्रांत बन जाने का समाचार पढ़कर सहसा ख़्याल आया कि आख़िर वह दिन कब आयेगा जब हिंद का भी ठीक प्रांत बन सकेगा। संभव है बहुत से पाठक हिंद प्रांत का अर्थ न समझे हों। मेरा तात्पर्य हिंदी-भाषी प्रदेश के ठीक नामकरण तथा सीमा-विभाग से है।

भारत के प्रांतीय विभाग का इतिहास बड़ा रोचक है। वास्तव में भारतवर्ष में कुछ जातीय भूमिएँ बहुत प्राचीन काल से चली आ रही थीं किंतु पिछले हज़ार आठ सौ बरसों से देश में विदेशी शासन होने के कारण इन जातीय भूमियों का व्यक्तित्व कुछ मिट गया था। विदेशी शासकों के दृष्टिकोण से भारत की जातीय भूमियों की उपेक्षा का सिद्धांत उनके लिये सदा हितकर रहा। तो भी भारत की जातीय भूमिएँ बिलकुल मिट नहीं सकीं। मुग़ल साम्राज्य के कमज़ोर पड़ते ही बंगाल, बिहार, गुजरात आदि प्रदेशों ने अपने अस्तित्व को स्वतंत्र करने के लिये सिर उठाया और अपनी सफलता से यह सिद्ध कर दिया कि भारत के अंदर कुछ स्वाभाविक विभाग हैं जिनके व्यक्तित्व को कोई भी अखिल भारतवर्षीय केंद्रीय शासन समूल नष्ट नहीं कर सकता।

अंग्रेज़ी शासन काल में भी भारत की जातीय भूमियों या स्वाभाविक प्रांतों का मुसलिम कालीन इतिहास फिर से दोहराया गया। हमारे नये शासकों ने जिस क्रम से भारत के भिन्न-भिन्न भागों को अपने कब्ज़े में किया वैसे ही अपनी सुविधानुसार वे ब्रिटिश प्रांतों का निर्माण करते गये। इन प्रांतों के बनाने में देश के स्वाभाविक विभागों की पूर्ण रूप से उपेक्षा की गई। प्रारंभ में ब्रिटिश भारत बंगाल, बंबई और मदरास नामों से तीन प्रेसीडेंसियों में विभक्त कर दिया गया था। यह अत्यंत अस्वाभाविक विभाग बहुत दिनों तक नहीं चल सका। सबसे पहले बंगाल प्रेसीडेंसी में परिवर्तन करने की आवश्यकता प्रतीत हुई और धीरे-धीरे इस एक प्रेसीडेंसी के स्थान पर आसाम, बंगाल, संयुक्तप्रांत, बिहार, और उड़ीसा के अधिक स्वाभाविक प्रांत बनाने पड़े। बंबई प्रेसीडेंसी में सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र और कर्नाटक की चार जातियाँ सम्मिलित हैं। इनमें सिंध अब पृथक् प्रांत हो गया है। गुजरात महाराष्ट्र तथा कर्नाटक के स्वतंत्र प्रांतों के रूप में विभक्त होने में अभी कुछ

समय लगेगा यद्यपि इनमें से प्रत्येक अपने स्वतंत्र व्यक्तित्व और गौरव-पूर्ण इतिहास पर गर्व करने लगा है। तीसरी मद्रास प्रेसीडेंसी अभी तक ज्यों की त्यों चली जा रही है। इस प्रेसीडेंसी में आंध्र, तामिल और मलय इन तीन जातीय भूमियों की चोटिएँ बँधी हुई हैं। तेलगू बोलने वाले आंध्र लोगों में अपना स्वतंत्र प्रांत बनाने का आंदोलन दिन-दिन ज़ोर पकड़ रहा है और वह समय दूर नहीं है जब आंध्र स्वतंत्र प्रांत बन जायेगा और इस तरह से ब्रिटिश भारत के अंतिम अस्वाभाविक प्रांत मद्रास प्रेसीडेंसी का भी स्वाभाविक रूप ग्रहण करने के लिये टूटना प्रारंभ हो जावेगा। प्रारंभिक काल में ही ब्रिटिश भारत का सबसे अधिक स्वाभाविक प्रांत पंजाब रहा है। और मध्यप्रांत सबसे अधिक अस्वाभाविक। मध्यप्रांत मराठों और हिंदियों का जुड़वाँ प्रांत है। संक्षेप में हम यह पाते हैं कि ब्रिटिश भारत का प्रांतीय विभाग धीरे-धीरे स्वाभाविक प्रादेशिक विभाग की ओर विकसित हो रहा है।

भारत की जातीय भूमियों के अस्तित्व को आधुनिक काल में स्पष्ट रूप से कांग्रेस महासभा ने स्वीकृत किया और उसने अपना प्रांतीय विभाग साधारणतया जातीय भूमियों के प्रत्यक्ष प्रमाण अर्थात् भाषा के आधार पर किया। इस सिद्धांत के अनुसार महासभा ने आसाम, बंगाल, उड़ीसा, पंजाब, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्नाटक, आंध्र, तामिल, मलयलम को पृथक्-पृथक् स्वतंत्र प्रांत मान लिया है। किंतु महासभा ने भी हिंदी-भाषी प्रदेश का प्रांतीय विभाग उपर्युक्त व्यापक तथा स्वाभाविक सिद्धांत के आधार पर नहीं किया। कदाचित् दोष हिंदी-भाषियों का ही है क्योंकि उन्हें स्वयं अपनी जातीय-भूमि की सीमाओं का तथा अपने स्वतंत्र अस्तित्व का बोध नहीं रहा है, अतः उन्होंने कोई माँग ही पेश नहीं की। बंगाल, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र तथा सिंध आदि की तरह हिंद का एक स्वाभाविक प्रांत बनाने के प्रश्न का आंदोलन कभी हुआ ही नहीं। ब्रिटिश प्रांतों के विभागों से प्रभावित होकर महासभा ने संयुक्तप्रांत, दिल्ली, हिंदुस्तानी सी० पी०, बिहार तथा अजमेर इन पाँचों प्रांतों में हिंदी-भाषियों को बाँट रक्खा है। महासभा ने इनमें कुछ छोटे-मोटे परिवर्तन अवश्य किए हैं जैसे मध्यप्रांत के हिंदी-भाषी भाग को अलग प्रांत मान लिया है और उसका नाम महाकोशल स्वीकृत कर लिया है। इसमें मध्य भारत के रीवाँ राज्य को भी रख दिया है। संयुक्तप्रांत के कुछ भाग को दिल्ली प्रांत में डाल दिया है। सुनते हैं कि संयुक्तप्रांत का नाम प्रांतीय कांग्रेस

कमेटी ने हिंद रख दिया है, किंतु इसकी मंजूरी अभी तक अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस कमेटी ने नहीं दी है।

इस तरह भारतवर्ष में जातीय भूमि अथवा स्वाभाविक प्रांतीय विभाग की दृष्टि से यदि सबसे अधिक दुर्गति है तो यह हिंदी-भाषी प्रदेश की है। बंगाल, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, आंध्र, उड़ीसा, तामिल आदि प्रत्येक प्रांत का एक स्वाभाविक नाम है। प्रत्येक प्रदेश की जनता अपने प्रांतीय व्यक्तित्व को अनुभव करती है तथा प्रत्येक प्रांत में कुछ प्रांतीय नेता हैं जो प्रांत के हित अनहित की ओर ध्यान देते हैं। हिंदी प्रदेश का न तो अभी कोई ठीक नाम है, न प्रांतीय विभाग की स्वाभाविक सीमाएँ निर्धारित हो सकी हैं और न हिंदी प्रदेश के अपने नेता ही हैं—अखिल भारतवर्षीय नेता पैदा करने में यह प्रदेश अवश्य सबसे अधिक उपजाऊ सिद्ध हुआ है। किंतु अब वह समय आ गया है जब हिंदियों को अपना घर भी सँभालना चाहिए। हिंदियों का मुख्य केंद्र संयुक्तप्रांत है अतः इस आंदोलन का प्रारंभ यहाँ ही से होना चाहिए। इस संबंध में नीचे लिखे दो प्रस्ताव मैं हिंदी जनता के सामने रखना चाहता हूँ, एक नाम के संबंध में और दूसरा प्रांतीय सीमाओं के संबंध में।

प्रांतीय कांग्रेस सभा ने संयुक्तप्रांत का नाम हिंद रख दिया है। यह नाम अत्यंत उपयुक्त है क्योंकि इससे प्रांत, निवासी तथा भाषा तीनों के नाम सार्थक ढंग से बन जाते हैं—प्रांत हिंद, निवासी हिंदी, भाषा हिंदी—जैसे बंगाल बंगाली, पंजाब पंजाबी, गुजरात गुजराती, सिंध सिंधी आदि की जोड़िएँ बनती हैं। प्रांत के इस नाम में मुसलमानों को भी आपत्ति नहीं होनी चाहिए क्योंकि वास्तव में यह नाम उन्हीं का दिया हुआ है। इस नाम से समस्त भारतवर्ष के साथ भ्रम होने का भय भी नहीं है क्योंकि समस्त देश के लिये भारत अथवा हिंदुस्तान नाम चल रहा है। हिंदुस्तान और हिंद के अर्थ धीरे-धीरे स्पष्ट रीति से पृथक् हो जावेंगे। संयुक्तप्रांत के हिंद नाम को अखिल भारतवर्षीय कांग्रेस सभा से शीघ्र से शीघ्र स्वीकृत करवा लेना चाहिए और समस्त हिंदी पत्रों को संयुक्तप्रांत के स्थान पर हिंद नाम का ही प्रयोग करना चाहिए। साथ ही इस बात का आंदोलन भी प्रांत में होना चाहिए कि ब्रिटिश सरकार भी संयुक्तप्रांत के नाम के इस परिवर्तन को स्वीकार कर ले। इस तरह हिंदियों की मूल जातीय भूमि के अस्तित्व की उचित नींव पड़ सकेगी।

दूसरी समस्या हिंद प्रांत की सीमाओं के संबंध में होगी। बंगालियों ने

अपने प्रांत की स्वाभाविक सीमाओं में लौट-पौट न होने देने के लिये जी-जान से कोशिश की थी। और उसमें उन्हें सफलता भी हुई क्योंकि उनकी माँगें उचित थीं। भारत की प्रत्येक जातीय भूमि का विभाग स्वाभाविक ढंग से है और यह ठीक ही है। मेरी समझ में बिहार और राजस्थान इन दो हिंदी-भाषी प्रांतों को इनके वर्तमान रूप में ही स्वतंत्र प्रांत रहने देना चाहिए क्योंकि इनके पीछे ऐतिहासिक, तथा शासन-संबंधी सुविधाएँ कारण-स्वरूप हैं। हिंद या संयुक्तप्रांत की सीमाएँ अवश्य कुछ अस्वाभाविक हैं। दिल्ली को स्वतंत्र हिंदी प्रांत रखना अनुचित, अस्वाभाविक तथा अहितकर है। दिल्ली तथा पंजाब के अम्बाला, रोहतक, हिसार, आदि के हिंदी-भाषी ज़िले हिंद प्रांत में लौट आने चाहिए। हिंदुस्तानी मध्यप्रांत का स्वतंत्र अस्तित्व रखने के पीछे भी कोई कारण नहीं दिखलाई पड़ता। वास्तव में महाकोशल हिंद का ही एक भाग है। कांग्रेस महासभा को ब्रिटिश शासकों द्वारा किए गए अस्वाभाविक प्रांतीय विभागों को आँख मीच कर नहीं मानना चाहिए। मध्यभारत के देशी राज्यों में से इंदौर को राजस्थान में डाल देना चाहिए तथा ग्वालियर, पन्ना, रीवाँ आदि को हिंद में। कुछ लोग कहेंगे कि यह हिंद प्रांत बहुत बड़ा हो जावेगा, किंतु यदि प्रांतीय स्वाभाविक एकता के कारण ३० लाख के सिंध के बराबर में ४½ करोड़ का बंगाल प्रांत माना जा सकता है तो ६ करोड़ के हिंद प्रांत को भी ज़िंदा रहने का अधिकार होना चाहिए। प्रबंध के सुभीते की दृष्टि से हम अपने प्रांत को महाकोशल, बघेलखंड, बुंदेलखंड, अवध, काशी, व्रज, सरहिंद आदि उप-विभागों में विभक्त कर सकते हैं। लेकिन यह तो हमारी घरेलू समस्या है। अन्य प्रांतों को इसमें दख़ल देने का कोई अधिकार नहीं है।

वास्तव में हिंदी की पत्र-पत्रिकाओं का कर्तव्य है कि अपनी जातीय भूमि के उचित नामकरण तथा सीमा विभाग के प्रश्न को हाथ में लें और तब तक चैन से न बैठें जब तक उन्हें इसमें सफलता न हो जावे। आसाम और बिहार को तो बंगाल ने अपनी मुक्ति के साथ ही मुक्त कर दिया था। उड़ीसा और सिंध दस बारह वर्ष के निरंतर आंदोलन के बाद स्वतंत्र होने में सफल हो सके हैं। आंध्र, तामिल, कर्नाटक, महाराष्ट्र तथा गुजरात अपने घरों को ठीक करने में व्यस्त हैं। किंतु हिंदियों की दीर्घ निद्रा अभी तक नहीं टूटी है। सिंध अब हिंद कब ?

६—संस्कृत से इतनी चिढ़ क्यों ?

अभी उस दिन मैं मक्तबा जामिया देहली से प्रकाशित 'हिंदुस्तानी' शीर्षक पुस्तक पढ़ रहा था। उसमें एक स्थल पर बाबू राजेंद्र-प्रसादजी ने एक हिंदी उद्धरण की भाषा-शैली पर अपने विचार प्रकट किए हैं। उद्धरण यह है :—

"संयुक्तप्रांतीय व्यवस्थापिका-परिषद् में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए न्याय-मंत्री डॉक्टर काटजू ने उद्योग-धंधों की सूची दी जिनकी उन्नति के लिये सरकार ने सहायता देना स्वीकार किया है।" राजेंद्र बाबू का कहना है कि "इसमें जहाँ तक मैं समझता हूँ व्याकरण तो हिंदुस्तानी ही का इस्ते-माल हुआ है मगर जो शब्द आए हैं वह संस्कृत के हैं और ऐसा मालूम पड़ता है जैसे फ़ारसी अरबी के लफ़्ज़ जान-बूझ कर निकाले गए हैं। 'प्रश्न' और 'उत्तर', 'सूची' और 'सहायता' संस्कृत के शब्द हैं। फ़ारसी और अरबी से लिये गए सवाल, जवाब, फ़ेहरिस्त और मदद कुछ कम चालू नहीं हैं।"

हिंदी साहित्य सम्मेलन के एक भूतपूर्व प्रधान के ये विचार पढ़ कर मेरे मन में सहसा यह प्रश्न उठा कि आख़िर हमारे अपने लोगों को संस्कृत से इतनी चिढ़ क्यों है ? इसी पुस्तक में इस उद्धरण के संबंध में उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० मौलवी अब्दुल हक़ का मंतव्य है कि "इस जुम्ले में संस्कृत लफ़्ज़ों की भरमार है और मतलब समझ में नहीं आता। यह हमारी ज़बान नहीं। यह सरासर बनावटी ज़बान है।" मौलाना अब्दुल हक़ का संस्कृत लफ़्ज़ों से चिढ़ना स्वाभाविक है। वे उन्हें समझते ही नहीं। किंतु आश्चर्य उन पर होता है जो जान-बूझ कर अनजान बनते हैं। इसी से मिलती-जुलती दूसरी विचार-धारा है जिसके अनुसार हिंदी के शब्द-समूह के संबंध में संस्कृत, फ़ारसी, अरबी शब्दों को एक साँस में कहा जाता है—हिंदी में संस्कृत, फ़ारसी तथा अरबी के शब्द कम से कम प्रयुक्त होने चाहिए—मानों हिंदी का संबंध संस्कृत तथा फ़ारसी-अरबी से समान है।

पिछले दिनों हिंदी को क्षति पहुँचाने के जो यत्न हुए थे उनके मूल में यही दृष्टिकोण था—भारतीय भाषाओं के लिये संस्कृत तथा फ़ारसी-अरबी

के संबंध को समान समझना—बल्कि संस्कृत की अपेक्षा फ़ारसी-अरबी की तरफ़ झुकाव रखना। दैवयोग तथा हिंदियों के उद्योग से ये काली घटाएँ कुछ समय के लिये हट गई हैं किंतु जब तक इस दृष्टिकोण को समूल नष्ट नहीं किया जा सकेगा तब तक हिंदी को सुरक्षित नहीं समझना चाहिए। अतः इस विचार के मूल कारणों को समझना आवश्यक है।

पिछले दिनों इस विचार के व्यापक होने का मुख्य कारण इस संबंध में कांग्रेस की नीति थी। महात्मा गांधी का विचार है कि यदि सीमाप्रांत, पंजाब तथा संयुक्तप्रांत के मुसलमानों को साथ में रखना है तो राष्ट्रभाषा की शैली का झुकाव फ़ारसी-अरबी शब्दों की तरफ़ होना चाहिए। इसके फलस्वरूप कांग्रेस के बड़े-छोटे नेताओं तथा अनुयायियों और सहानुभूति रखने वालों ने आँख मीच कर इस नीति का अनुसरण किया। कांग्रेस के हाथ में कुछ समय के लिये शासन की बागडोर आ जाने के कारण इस विचार के प्रचार में तथा शिक्षा-संस्थाओं में इसे कार्यरूप में परिणत करने में और भी अधिक सहायता मिली। शासन का बल बहुत बड़ा होता है। फलस्वरूप कुछ हिंदी के प्रकाशक तथा लेखक तक इस ओर ढुलकते दिखाई पड़ने लगे। किंतु सौभाग्य अथवा दुर्भाग्य से इसी बीच में शासन-शक्ति कांग्रेस के हाथ से निकल गई और अन्य राष्ट्रीय आयोजनाओं के साथ-साथ 'हिंदुस्तानी' की आयोजना भी जहाँ की तहाँ रह गई। इस बीच हिंदी अजगर ने भी करवट बदली और इसका प्रभाव भी कुछ न कुछ पड़ा ही। अगर हमारे बच्चों की शिक्षा का माध्यम खिचड़ी भाषा हो गया होता तो जैसे पिछली पीढ़ियों ने उर्दू या अंग्रेज़ी सीखी थी इसी तरह आगे की नसलों के गले के नीचे 'हिंदुस्तानी' उतार दी गई होती, चाहे उन्हें यह कड़वी लगती या मीठी।

लेकिन वास्तविक प्रश्न यह है कि महात्मा गांधी या राजेंद्र बाबू जैसे त्यागी तथा देश-भक्त नेताओं का झुकाव इस तरफ़ हुआ ही क्यों? लोकमान्य तिलक तथा महामना मालवीयजी की तरह इनको संस्कृत का अनुराग क्यों नहीं है? मेरी समझ में इसके मूल में बालकों की शिक्षा है। वास्तव में अपने देश के बहुत कम बालकों को बचपन में भारतीय दृष्टिकोण से शिक्षा मिल पाती है। जो जैसी शिक्षा पाये होता है उसका झुकाव जाने या अनजाने उसी ओर होता है। उर्दू शिक्षा में डूबे हुए एक प्रेमचंद हिंदी की ओर

चले आये अथवा संस्कृत में एम० ए० तक पढ़े हुए एक नरेंद्रदेव सलीस उर्दू बोलना पसंद करते हैं ये तो अपवाद हैं।

यदि ध्यान से देखा जाय तो हिंदी-प्रेमियों की पिछली तथा वर्तमान पीढ़ी में प्रायः दो श्रेणी के व्यक्ति दिखलाई पड़ते हैं। अधिकांश वयोवृद्ध हिंदी के सेवक ऐसे हैं जिनकी शिक्षा का प्रारंभ फ़ारसी तथा उर्दू भाषाओं और अरबी लिपि से हुआ था। हिंदी तो इन्होंने बाद को निज के प्रयास से सीखी। जो संस्कार बचपन में पड़ जाते हैं उनका पूर्णतया दूर होना लगभग असंभव हो जाता है। हिंदी में संस्कृत शब्दों के बहिष्कार तथा फ़ारसी-अरबी शब्दों के प्रयोग का मोह रखने वाले हिंदी-भाषियों की यदि गणना की जाय तो इनमें ६६ प्रतिशत इसी श्रेणी के व्यक्ति निकलेंगे। मैं निश्चय के साथ नहीं कह सकता लेकिन कदाचित् स्वयं महात्मा गांधी और राजेंद्र बाबू भी इसी श्रेणी से संबंध रखने वाले सिद्ध होंगे।

अपने देश में जो विचारों का इतना अधिक संघर्ष दिखलाई पड़ता है उसके मूल में भी शिक्षा की विभिन्नता ही मुख्य कारण है। अतः देश में तब तक वास्तविक ऐक्य नहीं पैदा हो सकता जब तक मूल शिक्षा-पद्धति में समानता नहीं होती। एक ओर पुराने ढंग के काशी के पंडित हैं जिनकी शिक्षा का प्रारंभ रघुवंश और सिद्धांत-कौमुदी से होता है और इस वातावरण से वे कभी भी बाहर नहीं निकल पाते। दूसरी ओर पंजाब, दिल्ली तथा संयुक्तप्रांत में अब भी ऐसा वर्ग है जो अपने बच्चों की शिक्षा 'अलिफ़ बे' से आज भी प्रारंभ कराता है। इनके अतिरिक्त नगरों के अधिकांश बच्चों का प्रारंभिक जीवन 'ए० बी० सी०' की दुनिया में कटता है। बड़े होने पर भी ये तीन प्रकार के बच्चे किस तरह भाषा तथा संस्कृति के मूल सिद्धांतों के विषय में एक मत के हो सकते हैं?

यदि यह सच है तो प्रश्न यह किया जा सकता है कि फिर किस मार्ग का अनुसरण उचित है? नागरिक लोग अपने बच्चों को 'पंडित' बनाना पसंद नहीं करेंगे। न पंडितों के घराने अपने बच्चों का 'साहब' बन कर भ्रष्ट होना पसंद करते हैं। फिर आज भी हिंदी नागरिक बच्चों का जब तक 'शीन-क़ाफ़' दुरुस्त न हो तब तक वे 'संयुक्तप्रांत के नगरों में तो 'गँवार' समझे जाते हैं। संस्कृति के संघर्ष ने वास्तव में समस्या को बहुत उलझा दिया है, किंतु मेरी समझ में इस कठिनाई में से मार्ग निकालना असंभव नहीं है।

प्रत्येक हिंदी बालक की शिक्षा का प्रारंभ हिंदी भाषा तथा देवनागरी लिपि से होना चाहिए। मेरा अभिप्राय वास्तविक हिंदी से है—हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा आदि से नहीं है। यह तो बाद को आप ही आ सकती है। हिंदी के अतिरिक्त मेरी समझ में प्रत्येक नागरिक बालक को थोड़ा ज्ञान अपने देश की परंपरागत संस्कृत भाषा तथा साहित्य का अनिवार्य रूप से होना चाहिए। यूरोप में तब तक किसी को वास्तव में शिक्षित—यह साक्षर होने से भिन्न बात है—नहीं समझा जाता जब तक वह थोड़ी-बहुत यूरोप की 'क्लासिक्स' अर्थात् ग्रीक या लेटिन न जानता हो। संस्कृत तथा पाली भारत की 'क्लासिक्स' हैं और इनका स्थान भारतीय शिक्षा-पद्धति में वही होना चाहिए जो यूरोप की शिक्षा-पद्धति में ग्रीक और लेटिन को प्राप्त है। नागरी-लिपि, हिंदी तथा प्रारंभिक संस्कृत सीख लेने के बाद आवश्यकतानुसार बच्चों को अन्य भाषाएँ तथा लिपियाँ सिखायी जा सकती हैं। उदाहरणार्थ मुसलमानी शासन-काल में नागरिक बच्चों को उर्दू भाषा, अरबी लिपि अथवा कुछ फ़ारसी जानना आवश्यक था तथा आजकल अंग्रेज़ी शासन में रोमन-लिपि तथा अंग्रेज़ी का ज्ञान लगभग अनिवार्य है।

इस प्रकार यदि मूल शिक्षा समस्त बालकों की समान हो तो बड़े होने पर भारतीय भाषा, साहित्य, लिपि तथा संस्कृति के संबंध में अभारतीय दृष्टिकोण असंभव हो जायगा। तब ऐसी विचार-धारा से टक्कर लेने की आवश्यकता ही नहीं रह जायगी जो 'प्रश्न', 'उत्तर', 'सूची' और 'सहायता' की अपेक्षा 'सवाल', 'जवाब', 'फ़ेहरिस्त' और 'मदद' को अपने अधिक निकट अनुभव करती हो।

ङ—आलोचना तथा मिश्रित

१–हिंदी साहित्य के इतिहास[१]

'हिंदी शब्दसागर' की भूमिका में गतवर्ष 'हिंदी साहित्य का विकास' शीर्षक एक अंश पं० रामचंद्र शुक्ल द्वारा लिखा निकला था। प्रस्तुत हिंदी-साहित्य का इतिहास लेखक के इसी अंश का परिवर्द्धित पुस्तकाकार संस्करण है। इस ग्रंथ के निकलने के पूर्व हिंदी में इस विषय पर कोई भी ऐसी मझोली मान्य पुस्तक न थी जो विद्यार्थी-वर्ग तथा साहित्य-प्रेमियों के हाथ में दी जा सकती। 'मिश्रबंधु-विनोद' के तीनों भागों या उन्हीं के लिखे संक्षिप्त इतिहास से यह काम लिया जाता था किंतु ये दोनों पुस्तकें इस कार्य के लिये बहुत उपयुक्त न थीं। शुक्लजी के ग्रंथ ने वास्तव में एक बड़ी भारी कमी पूरी कर दी है।

काल विभाग को छोड़ कर शुक्लजी के इतिहास का ढंग 'विनोद' से बहुत मिलता-जुलता है। शुक्लजी ने हिंदी-साहित्य के इतिहास को वीर-गाथा-काल, भक्ति-काल, रीति-काल तथा गद्य-काल में विभाजित किया है। 'विनोद' के काल-विभाग की अपेक्षा यह विभाग अवश्य ही अधिक सरल, सुबोध और युक्तिसंगत है। प्राय: प्रत्येक काल के विवेचन में आरंभ में एक प्रकरण में उस काल का 'सामान्य परिचय' दिया गया है और फिर दो या आवश्यकतानुसार अधिक प्रकरणों में उस काल की मुख्य-मुख्य काव्य-धाराओं से संबंध रखने वाले कवियों या लेखकों का वर्णन किया गया है। कवियों के संबंध में दिए गए ये विवेचन बिलकुल 'विनोद' के ढंग के हैं। प्रत्येक धारा से संबंध रखने वाले मुख्य-मुख्य कवियों पर अलग-अलग एक, दो, तीन संख्याएँ लगा कर छोटे-छोटे लेख लिखे गए हैं जिनमें कवि की जीवनी और ग्रंथ-रचना के संबंध में संक्षिप्त विवेचन देकर अंत में उस कवि या लेखक की कृति के कुछ उदाहरण दे दिए हैं। पता नहीं शुक्लजी ने अपने इतिहास में यह ढंग रखना क्यों पसंद किया।

---

(१) **हिंदी साहित्य का इतिहास**—लेखक, रामचंद्र शुक्ल। प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा की ओर से इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग। संवत् १९८६। आकार २०×३० सोलह पेजी। पृष्ठ १२+६८४+६० सजिल्द ४।)

हिंदी भाषा और साहित्य—लेखक, श्यामसुंदरदास। प्रकाशक, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग। संवत् १९८७। आकार रायल अठपेजी। पृष्ठ ५४०। सजिल्द और सचित्र। मूल्य ६)।

साहित्यिक कोष की दृष्टि से तो यह क्रम बुरा नहीं है किंतु एक संबद्ध इतिहास की दृष्टि से ढंग में ऐसा बिखरापन आ जाता है कि किसी भी प्रकरण को पढ़ कर मस्तिष्क पर उसका ठीक सम्मिलित प्रभाव नहीं पड़ता! फिर इस ढंग में तुलनात्मक अथवा व्यक्तिगत आलोचना के लिये भी पर्याप्त स्थान नहीं रह जाता। इस दृष्टि से शुक्लजी का इतिहास 'मिश्रबंधु-विनोद' का पूर्ण रूप से संशोधित किंतु संक्षिप्त संस्करण-सा दिखलाई पड़ने लगता है।

कदाचित् पिछले इतिहासों पर आवश्यकता से अधिक भरोसा करने के कारण कुछ स्थलों पर पुरानी भूलें इस इतिहास में भी घुस आई हैं। उदाहरण के लिये सूरदासजी के वर्णन में एक स्थल पर शुक्लजी ने लिखा है कि "उक्त 'वार्ता' (चौरासी-वार्ता) के अनुसार ये सारस्वत ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रामदास था। भक्तमाल में भी ये ब्राह्मण ही कहे गए हैं और आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत होना लिखा है।"—पृष्ठ १५५-१५६। बहुत करके यह अंश 'हिंदी नवरत्न' के निम्नलिखित अंशों से प्रभावित जान पड़ता है—"चौरासी वार्ता तथा भक्तमाल के अनुसार सूरदास सारस्वत ब्राह्मण थे और इनके पिता का नाम रामदास था।" "भक्तमाल में लिखा है कि इनके पिता ने आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत कर दिया था।" पृष्ठ १६७। इस समय जो 'चौरासी वार्ता' उपलब्ध है उसमें सूरदास की वार्ता अवश्य है किंतु उसमें सूरदास के ब्राह्मण होने का भी उल्लेख नहीं मिलता, फिर सारस्वत ब्राह्मण होने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सूरदास के पिता का नाम रामदास था यह उल्लेख भी वार्ता में दी हुई सूरदास की जीवनी में कहीं नहीं मिलता।

'चौरासी वार्ता' में पाए जाने वाले वर्णन में सूरदास की जाति अथवा उनके माता-पिता का उल्लेख ही नहीं है। चौरासी वार्ता का वर्णन निम्नलिखित ढंग का है—"सो गऊघाट ऊपर सूरदास जी कौ स्थल हुतौ। सो सूरदास जी स्वामी है, आप सेवक करते, सूरदास जी भगवदीय हैं गान बहुत आछौ करते, ताते बहुत लोग सूरदास जी के सेवक भये हुते।" (चौरासी वैष्णव की वार्ता, डाकोर, संवत् १९६०, पृ० २११)।

नाभादास कृत भक्तमाल में भी न तो सूरदास का ब्राह्मण या सारस्वत ब्राह्मण होना लिखा है, न इनके पिता रामदास थे इसका उल्लेख है, और

न यह पाया जाता है कि आठ वर्ष की अवस्था में इनका यज्ञोपवीत हुआ था। भक्तमाल में सूरदास के संबंध में एक ही छप्पय है जो प्रसिद्ध होते हुए भी संशय निवारणार्थ नीचे दिया जाता है—

सूर कवित सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै।
उक्ति, चोज, अनुप्रास, बरन अस्थिति, अतिभारी।
बचन प्रीति निर्वाह, अर्थ अद्भुत तुकधारी॥
प्रतिबिंबित दिवि दृष्टि, हृदय हरिलीला भाषी।
जनम करम गुनरूप सबै रसना परकासी॥
बिमल बुद्धि गुन और की, जो यह गुण श्रवननि धरै।
सूर कवित सुनि कौन कवि, जो नहिं सिर चालन करै॥७३॥

—श्रीभक्तमाल, लखनऊ (१६१३) पृष्ठ ५३६—५४०।

नाभादास के इस छप्पय पर प्रियादास ने एक भी कवित्त नहीं लिखा है, अतः प्रियादास की टीका में इन बातों के पाए जाने का प्रश्न भी नहीं उठ सकता। श्री सीतारामशरण के तिलक तक में इस तरह का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

'चौरासी वार्ता' और 'भक्तमाल' के कल्पित आधार पर किए गए सूरदास के संबंध में इन भ्रमात्मक उल्लेखों का समावेश राय साहब बाबू श्यामसुंदरदास के 'हिंदी भाषा और साहित्य' शीर्षक ग्रंथ में भी हो गया है। उपर्युक्त ग्रंथ में सूरदास के वर्णन में बाबू साहब लिखते हैं कि "चौरासी वैष्णवों की वार्ता तथा भक्तमाल के साक्ष्य से ये सारस्वत ब्राह्मण ठहरते हैं, यद्यपि कोई कोई इन्हें महाकवि चंदबरदाई के वंशज भाट कहते हैं।" पृष्ठ ४११-४१२।

यह स्पष्ट है कि शुक्लजी तथा बाबू श्यामसुंदरदास ने 'हिंदी नवरत्न' के आधार पर ही उपर्युक्त उल्लेख किया है। मिश्रबंधुओं के ग्रंथ में लिखे होने के कारण कदाचित् उन्होंने 'चौरासी वार्ता' या 'भक्तमाल' में देखकर जाँचने का कष्ट उठाना व्यर्थ समझा। मिश्रबंधुओं ने 'हिंदी नवरत्न' में सूरसागर के लेख में यह स्पष्ट लिख दिया है कि सूरदास की जीवन-घटनाओं के लिखने में उन्होंने राधाकृष्णदास द्वारा संपादित सूरसागर में भूमिका-स्वरूप दिए गए जीवन-चरित से भी सहायता ली है। वास्तव में इस सब गड़बड़ी का मूलाधार राधाकृष्णदास की लिखी यह जीवनी ही है। उपर्युक्त भूमिका में 'पूज्यपाद भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्रजी लिखित नोट सूरदासजी का' इस शीर्षक में नीचे

लिखा वाक्य आया है "चौरासी वार्ता, उसकी टीका, भक्तमाल और उसकी टीका में इनका जीवन विवृत किया है। इन्हीं ग्रंथों के अनुसार संसार को (और हम को भी) विश्वास था कि ये सारस्वत ब्राह्मण हैं, इनके पिता का नाम रामदास, इनके माता-पिता दरिद्री थे, ये गऊघाट पर रहते थे।" इत्यादि।

राधाकृष्णदास की भूमिका के इस उल्लेख में और ऊपर दिए हुए इसके आधुनिक रूपों में बहुत अंतर हो गया है। संभव है कि 'चौरासी वार्ता' अथवा 'भक्तमाल' की किसी विशेष टीका में सूरदासजी की जाति तथा पिता के नाम आदि के संबंध में इस तरह के उल्लेख हों किंतु यह निश्चय है कि इन मूल ग्रंथों में इस तरह के उल्लेख नहीं पाए जाते।

इस छोटी-सी बात का इतना विस्तृत विवेचन मैंने केवल इसलिये किया है कि इससे हिंदी के क्षेत्र में काम करने वालों की कठिनाइयों का ठीक-ठीक अनुभव हो सके। साहित्य के इतिहास जैसे विस्तृत विषय पर लिखने के लिये पिछले कार्य-कर्ताओं की खोज का सहारा लेना स्वाभाविक है। छोटे-छोटे उल्लेखों को जाँचने के लिये मूल ग्रंथों को प्रायः नहीं देखा जाता है। तो भी लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों के ग्रंथों में इस तरह के कुछ भी भ्रमात्मक उल्लेखों का पुश्तैनी ढंग से चलते रहना खटकता अवश्य है।

शुक्लजी ने अपने 'वक्तव्य' में हिंदी साहित्य के पुराने इतिहासों का उल्लेख किया है जिनमें शिवसिंह-सरोज, ग्रियर्सन का अंग्रेज़ी में लिखा हुआ इतिहास तथा 'मिश्रबंधु-विनोद' मुख्य हैं। खेद है कि शुक्लजी ने प्रसिद्ध फ्रांसीसी विद्वान् टैसी (गार्सां द तासी) के ग्रंथ का न तो उल्लेख किया है और न उसका उपयोग ही किया है। यह त्रुटि समान रूप से 'मिश्रबंधु-विनोद' तथा 'हिंदी भाषा और साहित्य' में भी रह जाती है। वास्तव में टैसी हिंदी साहित्य का प्रथम इतिहास-लेखक है। टैसी के हिंदी और हिंदुस्तानी साहित्य के इतिहास[1] का पहला भाग १८३९ तथा दूसरा भाग १८४६ ईसवी में फ्रांसीसी में छपा था। इस ग्रंथ का दूसरा परिवर्द्धित संस्करण तीन भागों में १८७० ईसवी

(१) गार्सां द तासी लिखित इस्त्वार द ला लितेरात्यूर एंदूई ए एंदूस्तानी, भाग १ (१८३९) भाग २। १८४६?

Garcin de Tassy, Histoire de la literature Hindouie er Hindoustanie, Vol. I, 1839, Vol. II, 1846.

में निकला था। यह स्मरण दिलाना अनुचित न होगा कि शिवसिंह सेंगर के ग्रंथ का प्रथम संस्करण १८७७ ई० में तथा दूसरा संस्करण १८८३ ई० में निकला था। कुछ अंशों में टैसी के दूसरे संस्करण में 'सरोज' की अपेक्षा कहीं अधिक सामग्री है। ग्रियर्सन ने (१८८६ ई० में) टैसी के ग्रंथ का उपयोग किया था किंतु कदाचित् पहला ही संस्करण ग्रियर्सन के सामने था क्योंकि दूसरे संस्करण में पाई जाने वाली विशेष सामग्री ग्रियर्सन के ग्रंथ में नहीं है। खेद है कि 'मिश्रबंधु-विनोद' (१९१३ ई०) तथा प्रस्तुत इतिहासों में भी इस विशेष सामग्री की उपेक्षा की गई है। टैसी के ग्रंथ की विशेषता यह है कि उसमें हिंदी और उर्दू दोनों साहित्यों का साथ-साथ विवेचन किया गया है। इसका क्रम 'विनोद' से बहुत मिलता-जुलता है। टैसी का ग्रंथ फ्रांसीसी भाषा में है किंतु अलभ्य नहीं है।

शुक्लजी के इतिहास के वीरगाथा-काल तथा गद्य-काल में बहुत-सी ऐसी नई सामग्री एकत्रित है जो अब तक हिंदी के विद्यार्थियों को एक जगह उपलब्ध नहीं थी, विशेषतया आधुनिक काल के कुछ अंश पढ़ने योग्य हैं। इन अंशों को पढ़कर मेरी धारणा तो यह बँधी है कि यदि शुक्लजी केवल आधुनिक हिंदी साहित्य का एक विस्तृत इतिहास लिख दें तो हिंदी साहित्य तथा उसके प्रेमियों और विद्यार्थियों का बड़ा लाभ हो। इस काल की सामग्री अभी बहुत कुछ मिल सकती है और इस विषय पर लिखने के लिये शुक्लजी अभी अनुभवी, लब्धप्रतिष्ठ तथा निष्पक्ष आलोचक के अतिरिक्त कोई भी अन्य व्यक्ति सहसा ध्यान में नहीं आता। जो हो शुक्लजी का प्रस्तुत ग्रंथ हिंदी साहित्य के इतिहास की जानकारी के लिये अनिवार्य है और रहेगा। हिंदी साहित्य के इतिहास पर अपने एक विद्वान् का लिखा एक जिल्द में पूर्ण ग्रंथ पाठकों के हाथ में अब दिया तो जा सकता है। अब तक तो इस संबंध में भी कठिनाई थी। पुस्तक की छपाई तथा जिल्द आदि सुथरी हैं किंतु विशेष आकर्षक नहीं हैं।

× × ×

राय साहब बाबू श्यामसुंदरदास के 'हिंदी भाषा और साहित्य' में दो भाग हैं। प्रथम भाग में लगभग १५० पृष्ठों में हिंदी भाषा के संबंध में विवेचन है तथा दूसरे भाग में शेष ३५० पृष्ठों में हिंदी साहित्य का दिग्दर्शन कराया गया है।

हिंदी भाषा के इस विवेचन का मूल-रूप छः सात वर्ष पूर्व लेखक की 'भाषा-विज्ञान' नाम की पुस्तक के अंतिम अध्याय के रूप में पहले पहल निकला था, उसके बाद यह अध्याय 'हिंदी भाषा का विकास' शीर्षक के स्वतंत्र पुस्तक के रूप में छपा था। गतवर्ष यही अंश शब्दसागर की भूमिका के एक अंश के रूप में दिया गया था और अब यह परिवर्द्धित और संशोधित होकर प्रस्तुत पुस्तक का पूर्व भाग है। लेखक ने 'भाषा-विज्ञान' नाम की पुस्तक अपने एम० ए० के विद्यार्थियों की 'शांत तथा दृढ़ पुकार' के कारण लिखी थी। हिंदी के अनेक क्षेत्रों में पथ-प्रदर्शक होने का श्रेय बाबू साहब को प्राप्त है और भाषा-विज्ञान तथा हिंदी भाषा का इतिहास भी इनमें से एक है। पथ-प्रदर्शक का काम कितना जटिल है यह वही ठीक-ठीक समझ सकता है जिसको इस संबंध में कुछ अनुभव हो। विश्वविद्यालयों में हिंदी की स्थापना तथा संचालन करने वाले अध्यापकों को 'पीर, बबर्ची, भिश्ती, ख़र' बने बिना निस्तार का कोई उपाय ही नहीं था। जिसे आधुनिक हिंदी गद्य, कबीर का रहस्यवाद, वल्लभाचार्य और उनके शिष्यों का पुष्टिमार्ग, विशिष्टाद्वैतवाद, भाषा-शास्त्र, साहित्य, समालोचना के सिद्धांत, भारतीय सभ्यता का इतिहास, रस और उसका निरूपण, हिंदी व्याकरण के रूपों का इतिहास जैसे भिन्न-भिन्न विषयों पर नित्यप्रति साथ-साथ व्याख्यान देने पड़ते हों उसका कार्य इन किन्हीं भी विषयों पर यदि विशेषज्ञों के कार्य की टक्कर न ले सके तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं। हिंदू विश्वविद्यालय के हिंदी अध्यापक की हैसियत से काम करते हुए उस सामग्री में से कुछ को इतने शीघ्र पुस्तकाकार प्रकाशित कर सकना बाबू साहब के विशेष अध्यवसाय, तथा इस संबंध में इनके प्राचीन अनुभव का परिचायक है। किसी आधुनिक भारतीय आर्यभाषा पर लिखने वाले को ग्रियर्सन के लेखों तथा उनकी 'भाषा सर्वे' का सहारा लेना अनिवार्य है। प्रस्तुत अंश में भी जगह-जगह उपर्युक्त सामग्री से सहायता ली गई है, किंतु साथ ही कुछ नवीन विचारों का भी समावेश किया गया है। डाक्टर सुनीतिकुमार चैटर्जी के 'बंगला भाषा का मूल तथा विकास'[1] शीर्षक ग्रंथ की बृहत् भूमिका में कुछ नवीनताएँ हैं जो ध्यान देने योग्य हैं। खेद है कि इस बृहत् ग्रंथ की सहायता बाबू साहब ने विशेष नहीं ली है। उदाहरण के

(१) सुनीतिकुमार चैटर्जी—'दि ओरिजिन एंड डेवलपमेंट आव् बंगाली लैंग्वेज', जिल्द १, २। १९२६।

लिये भारतीय आर्य भाषाओं का काल-विभाग श्रीयुत् चैटर्जी के ग्रंथ में अधिक सुबोध है किंतु बाबू साहब ने ग्रियर्सन के अनुसार पहली प्राकृत, दूसरी प्राकृत तथा तीसरी प्राकृत नाम बनाये रखना ही उचित समझा। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं का बहिरंग तथा अंतरंग भाषाओं में विभाग भी ग्रियर्सन के ही अनुसार रख लिया गया है। इस विषय में भी श्रीयुत् चैटर्जी के तर्क तथा प्रमाण ध्यान देने योग्य हैं तथा उनका विभाग विशेष युक्ति-संगत प्रतीत होता है।

हिंदी ध्वनियों के संबंध में कुछ भ्रम सनातन से चले आते हैं और वे बाबू साहब ने भी ज्यों के त्यों दोहरा दिए हैं। उदाहरण के लिये 'हिंदी के नादात्मक विश्लेषण और विकास' शीर्षक अध्याय (पृष्ठ ६४) में हिंदी ए (अ या आ+इ या ई) और ओ (अ या आ+उ या ऊ) को पूर्व प्रथानुसार संयुक्त स्वर बतलाया गया है। वास्तव में हिंदी ए और ओ संयुक्त स्वर न होकर केवल मूल स्वर मात्र हैं। वैदिक काल में कदाचित् इन स्वरों का उच्चारण संयुक्त स्वर के समान था। कोई भी हिंदी-भाषी इनके वर्तमान उच्चारण पर ध्यान देकर इस तथ्य को समझ सकता है, किंतु आज तक हिंदी भाषा के किसी भी लेखक ने इस पर ध्यान ही नहीं दिया है। पंडित कामताप्रसाद गुरु के व्याकरण में भी यह भ्रमपूर्ण उल्लेख मौजूद है तथा हिंदी के छोटे से लेकर बड़े तक प्रत्येक व्याकरण में बराबर यही लिखा मिलेगा।

बाबू साहब ने अपने विवेचन में कुछ ऐसी नवीनताओं का समावेश किया है जो ग्रियर्सन तथा चैटर्जी आदि समस्त लब्धप्रतिष्ठ विद्वानों की खोज के बिलकुल विरुद्ध जाती हैं। उदाहरण के लिये उन्होंने हिंदी की पाँच मुख्य उपभाषाएँ या बोलियाँ मानी हैं (पृष्ठ ८२) और इनके नाम १—राजस्थानी भाषा, २—अवधी, ३—ब्रजभाषा, ४—बुंदेली भाषा तथा ५—खड़ी बोली दिए हैं। फिर अवधी के अंतर्गत तीन मुख्य बोलियाँ मानी हैं—अवधी, बघेली और छत्तीसगढ़ी (पृष्ठ ८८)। आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं के समस्त विशेषज्ञों के अनुसार राजस्थानी भाषा हिंदी की उपभाषा नहीं मानी जाती तथा छत्तीसगढ़ी अवधी की बोली नहीं मानी जाती। समस्त विशेषज्ञों से मतभेद होने पर पर्याप्त कारणों का देना आवश्यक है।

ग्रियर्सन के आधार पर इस अंश में चार मानचित्र भी दिए गए हैं

जिनसे विषय को समझने में सहायता मिलती है। किंतु बहुत स्पष्ट छपे होने पर भी इन पर विशेष परिश्रम नहीं किया गया है। उदाहरण के लिये राजस्थानी, पश्चिमी हिंदी, तथा पूर्वी हिंदी की बोलियों की सीमाएँ भारत के मानचित्र में ही दिखलाने के कारण इन बोलियों के विस्तार का ठीक बोध नहीं होता अतः इन तीन पृथक् मानचित्रों का देना व्यर्थ हो जाता है। एक ही मानचित्र में सीमाएँ दिखलाई जा सकती थीं। यदि पृथक् मानचित्र देने थे तो केवल इन्हीं भागों के बड़े मानचित्र देने चाहिए थे।

प्रस्तुत ग्रंथ का दूसरा भाग 'हिंदी साहित्य' शीर्षक है। इस भाग में दूसरे और तीसरे अध्याय हिंदी में अपने ढंग के बिलकुल नए हैं। 'भिन्न-भिन्न परिस्थितियाँ' शीर्षक दूसरे अध्याय में हिंदी साहित्य के निर्माण-काल की राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परिस्थितियों पर संक्षेप में विचार किया गया है। 'ललित कलाओं की स्थिति' शीर्षक तीसरे अध्याय में इसी काल की ललित कलाओं—वास्तुकला, मूर्तिकला, चित्रकला तथा संगीतकला—का संक्षिप्त इतिहास दिया गया है। अनेक चित्रों के दे देने से यह अध्याय और भी अधिक रोचक हो गया है। लेखक के अनुसार 'साहित्य के तीसरे अध्याय की समस्त सामग्री राय कृष्णदास की कृपा का फल है और उसे सुचारु रूप से सजाने तथा उस निमित्त सत्परामर्श देने में रायबहादुर महामहोपाध्याय पंडित गौरीशंकर हीराचंद ओझा, बाबू काशीप्रसाद जायसवाल, रायबहादुर बाबू हीरालाल, मिस्टर एन्० सी० मेहता तथा डाक्टर हीरानंद शास्त्री ने......कृपा की है।' ऐसी अवस्था में इस विषय के विवेचन का आदर्श-स्वरूप होना स्वाभाविक है।

साहित्य-भाग के शेष अंश में 'विषय-प्रवेश' शीर्षक एक अध्याय देने के बाद वीरगाथा-काल, भक्ति-काल की ज्ञानाश्रयी, प्रेममार्गी, रामभक्ति तथा कृष्णभक्ति शाखाओं, रीतिकाल तथा आधुनिक काल पर पृथक्-पृथक् अध्याय हैं। साहित्य के इस इतिहास की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि पृथक्-पृथक् कवियों के संबंध में विस्तार न देकर उनको लेते हुए प्रत्येक काल पर संबद्ध रूप से आलोचनात्मक किंतु रोचक तथा सरसरी ढंग से विवेचन किया गया है जिससे ग्रंथ के इस अंश के पढ़ने में विशेष आनंद आता है। हिंदी में इस ढंग का यह विवेचन पहला ही है। अन्य ग्रंथों के आधार पर चलने के कारण कहीं-कहीं भूलों का रह जाना स्वाभाविक है। इस संबंध में

कुछ उल्लेख ऊपर भी किए जा चुके हैं। शायद जल्दी के कारण कुछ अन्य स्थलों पर भी छोटी-छोटी भूलें रह गई हैं। जैसे, चौथे अध्याय में विवेचन है खुमान रासो से लेकर वीर-सतसई तक के हिंदी वीर-काव्य का, किंतु अध्याय का शीर्षक दिया गया है 'वीर-गाथा-काल'। इस अध्याय का शीर्षक 'हिंदी वीर-काव्य' अधिक उचित होता। किसी भी लेखक के समस्त विचारों से अन्य विद्वान् संमत नहीं हो सकते। मतभेद का रहना स्वाभाविक है। यह होते हुए भी यह कहना पड़ेगा कि बाबू साहब की अधिकांश आलोचनाएँ स्पष्ट, निर्भीक तथा आधुनिक दृष्टिकोण के उपयुक्त ही हैं। प्राचीन तथा आधुनिक कवि तथा लेखकों के चित्रों के समावेश के कारण ग्रंथ विशेष आकर्षक हो गया है।

अपनी इस वृहत् पुस्तक के केवल मात्र साहित्य के अंश को यदि बाबू साहब अलग छपवा दें तो साधारण विद्यार्थी तथा हिंदी-प्रेमी जनता कदाचित् विशेष लाभ उठा सके। हिंदी भाषा वाला अंश तो अलग भी पुस्तकाकार मिलता है। पुस्तक की छपाई, काग़ज़ तथा जिल्द आदि आदर्श हैं। वास्तव में पुस्तक को हाथ में लेकर गर्व होता है। ऐसी सुंदर छपी हुई पुस्तकें हिंदी में बहुत कम हैं।

२—श्री मैथिलीशरण गुप्त का नया महाकाव्य

जीवन की दुपहरी बीत जाने पर अपने देश के 'प्राकृत कवि' भी राम-कृष्ण का स्मरण किये बिना नहीं रह पाते। केशव ने १७वीं शताब्दी के प्रारंभ में 'रामचंद्रिका' लिखी थी। गुप्तजी ने तीन सौ वर्ष बाद 'साकेत' लिखा।

इस बारह सर्ग के महाकाव्य में राम-कथा का चयन अपने ढंग से किया गया है। ग्रंथ के प्रारंभ में उद्धृत अंशों में से निम्नलिखित उद्धरणों में कदाचित् कवि ने इसका कारण संकेत रूप में बता दिया है—

कल्पभेद हरि-चरित सुहाए;
भाँति अनेक मुनीसन गाए।
हरि अनंत, हरि-कथा अनंता;
कहहिं, सुनहिं, समुझहिं श्रुति-संता।

बीसवीं सदी में रहते हुए भी कवि को सैरसपाटे का शौक़ नहीं। रामादि के विवाह के लिये उसे मिथिला-यात्रा करने का चाव नहीं, न वनवासी राम के साथ उसे दंडक-वन, किष्किंधा अथवा सुदूरवर्ती लंका-द्वीप में ही भटकने की इच्छा है। कथा रामादि के विवाह के बाद प्रारंभ होती है। वनवास के बाद कवि राम और उनके साथियों को चित्रकूट तक पहुँचा कर लौट आता है, और फिर शेष कथा दक्षिण से लौटे हुए साकेत-नगरी के व्यवसायियों अथवा संजीवनी लेकर लौटते हुए, भरत के तीर से गिराए गए हनूमान के मुख से सुनाकर ही उसे संतोष हो जाता है।

भिन्न-भिन्न रसों में घूमना भी कवि को रुचिकर प्रतीत नहीं होता। जब विवाहित भाइयों से कथा प्रारंभ होती है, तो फिर वात्सल्य के लिये स्थान ही नहीं रह जाता। संक्षेप में दूसरे के मुख से कहलाई जाने के कारण युद्ध की कथा में भी वीर, भयानक, रौद्र आदि रसों को विस्तार के साथ लाने के लिये विशेष अवसर नहीं निकल पाता। इस महाकाव्य में छुटे हुए दो-तीन रस हैं, और उन पर पूरा ध्यान दिया गया है।

राम-कथा पढ़ने के बाद आधुनिक भावुक पाठकों को प्रायः यह शिकायत रह जाती थी कि कवि लोग राम के साथ वन-वन भटकने में इतने तन्मय

हो जाते हैं कि बेचारे अयोध्या में रह जाने वाले लोगों की दशा के चित्रण पर ध्यान ही नहीं देते। वाल्मीकि कदाचित् वनवासी होने के कारण अयोध्या को भुला देते हैं, तुलसीदास तो राम-विहीन अयोध्या की ओर दृष्टि ही कैसे उठा सकते थे। बीसवीं सदी की स्त्री के समान सास-ससुर के घर में न रह सकने वाली सीता का इतना अधिक ध्यान तथा प्राचीन आदर्शों को पालने वाली आदर्श वधू उर्मिला के सुख-दुःख की ऐसी उपेक्षा! यह दूसरी भारी शिकायत प्राचीन कवियों से आधुनिक पाठकों को थी। 'साकेत' के कवि की कृति में इन दोनों त्रुटियों को दूर करने का उद्योग किया गया है। इस महाकाव्य की अयोध्या में यदि कोई पात्र सबसे पहले सामने आता है, तो वह राम के छोटे भाई लक्ष्मण की आदर्श सहधर्मिणी उर्मिला है। वास्तव में उर्मिला ही इस महाकाव्य की प्रधान स्त्री-पात्र है। 'साकेत' में होना भी ऐसा ही चाहिए।

इस विचित्र प्रारंभ के बाद राम-कथा सनातन रीति से चलने लगती है। दूसरे सर्ग में कैकेयी का वर माँगना तथा तीसरे, चौथे और पाँचवें सर्गों में राम-वन-गमन का विस्तृत वर्णन है। माता सुमित्रा का चित्रण उद्धत किंतु विशाल-हृदय लक्ष्मण की माता के अनुरूप ही है। छठे, सातवें और आठवें सर्गों में दशरथ-मरण, भरत-आगमन तथा भरत की चित्रकूट-यात्रा वर्णित है। चित्रकूट में लक्ष्मण और उर्मिला की क्षणिक भेंट अत्यंत मार्मिक है।

नवम सर्ग में आकर कथा रुक जाती है। महाकाव्य का साधारण रूप भी बदल जाता है। इस गीतकाव्यात्मक वृहत् सर्ग में उर्मिला के हृदय का चित्रण अनेक प्रकार से कवि ने किया है—एक नया गोपिका-विरह सामने आ जाता है। इस सर्ग में साधारण छंदोबद्ध रचना के साथ-साथ अनेक गीत जड़ दिए गए हैं, जिनमें से अधिकांश अत्यंत सुंदर हैं। एक साधारण महाकाव्य की रचना की दृष्टि से यह सर्ग भले ही उपयुक्त न समझा जाय, किंतु काव्य-कला की दृष्टि से इस सर्ग की रचना अत्यंत सुंदर तथा आकर्षक है। यह सर्ग कदाचित् एक काल की रचना नहीं है। इसे एक नन्हा-सा सूरसागर समझना चाहिए। दशम सर्ग में भी उर्मिला की कथा की प्रधानता है, किंतु यह शेष काव्य के अनुरूप वर्णनात्मक है।

ग्यारहवें और बारहवें सर्गों में नंदिग्राम में भरत, शत्रुघ्न आदि के बीच में पहुँचाकर तथा साकेत से निकाले हुए रामादि की कथा सुनाकर और अंत में राम को साकेत लौटा कर कवि ने कथा समाप्त कर दी है। प्रारंभ और

मध्य के समान ग्रंथ का अंत भी उर्मिला से ही होता है। उर्मिला-लक्ष्मण-मिलन का चित्र कुरुक्षेत्र पर राधा कृष्ण की संयत भेंट का स्मरण दिला देता है। संक्षेप में यह 'साकेत' की कथा है।

साकेत के अनेक स्थल अत्यंत सुंदर हैं। ऊपर बतलाए गए अंशों के अतिरिक्त एक-दो अन्य उदाहरण नीचे दिए गए हैं।

सर्ग २ में—

भरत-से सुत पर भी संदेह,
बुलाया तक न उन्हें जो गेह!

मंथरा के इन शब्दों को कैकेयी के मुख से, स्वगत के रूप में, कवि ने अत्यंत प्रभावोत्पादक रूप में दुहरवाया है। बारहवें सर्ग में शक्ति लगने के बाद होश में आने पर लक्ष्मण के वचन अत्यंत प्रभावोत्पादक हैं। नवाँ सर्ग तो सुंदर स्थलों की खान है।

गुप्तजी जैसे खड़ी बोली के सिद्धहस्त कवि की भाषा में कुछ खटकने वाले प्रयोगों पर दृष्टि गए बिना नहीं रहती। 'अँखियाँ' (पृष्ठ १४३) माधुर्य तथा अनुप्रास के लिये खड़ी बोली में लाया जा सकता है, किंतु सुथरी खड़ी बोली में फबता नहीं। 'कमर टूट जाना' हिंदी का महावरा है, किंतु उसका भाव 'कटि टूटी' (पृष्ठ १५३) शब्दों में आ सकता है, यह अत्यंत संदिग्ध है। 'जब तक जाय प्रणाम किया' (पृष्ठ ७८) वाक्य राधेश्याम की काव्य-शैली का स्मरण दिलाता है। 'जैसा है विश्वास मुझे उनके प्रती' (पृष्ठ ११४) में 'व्रती' से मिलाने के लिये यह 'प्रती' गुप्तजी जैसे कवि की क़लम की शोभा नहीं बढ़ाता। 'फड़फड़ करके कौन उड़ा दृढ़ पक्ष से' (पृष्ठ १३५) इसमें अनुप्रास लाने के लिये 'दृढ' के स्थान पर 'दृढ़' शायद जान-बूझकर किया गया है, किंतु क्या ऐसा करना उचित है? 'विधि से चलता रहै विधान' (पृष्ठ ३१२), संभव है, इसमें 'रहे' के स्थान पर 'रहै' छापे की भूल हो। 'ये प्रभु हैं, ये मुझे गोद में लेटाए लक्ष्मण भ्राता?' (पृ० ३८१), यहाँ 'लेटाये' रूप अत्यंत चिंत्य है। 'मेरे धन वे घनश्याम ही, जानेगा यह अरि भी अंध' (पृष्ठ ३८६), यहाँ 'घनश्याम' को संस्कृत शैली के अनुसार 'घनश्श्याम' पढ़ने से छंद पूरा होता है। संयुक्त व्यंजन के पूर्व के स्वर को गुप्तजी ने प्रायः दीर्घ करके ही प्रयोग किया है, किंतु हिंदी में अब यह अस्वाभाविक जँचता है। बचपन में मेरे एक गुरु-भाई थे। हम

लोग साथ-साथ संस्कृत व्याकरण पढ़ा करते थे। किसी के पूछने पर वह अपना नाम सिर को झटका देकर 'सत्यव्व्रत' बतलाया करते थे। विशुद्ध होने पर भी यह उच्चारण हास्यास्पद था। 'स्वप्न में' के स्थान पर 'स्वप्न में' (पृष्ठ ४१५), कदाचित् छापे की भूल है।

भाषा-संबंधी इन छोटी-छोटी बातों की ओर ध्यान आकृष्ट करने का मेरा उद्देश्य छिद्रान्वेषण करना नहीं। उपाध्यायजी तथा गुप्तजी जैसे टकसाली खड़ी बोली लिखने वाले कवियों द्वारा किए गए प्रयोग भविष्य के खड़ी बोली के लेखकों के लिये मार्ग-प्रदर्शक का काम करेंगे। अतः इन लोगों की भाषा में छोटे-से-छोटे असाधारण प्रयोगों की ओर एक अध्यापक समालोचक का ध्यान जाना स्वाभाविक ही है। ऊपर दिए हुए बहुत-से प्रयोग कवि ने जान-बूझकर किए हों, यह संभव है, किंतु इनमें से कुछ अवश्य ऐसे हैं, जिनका कारण व्यक्तिगत रुचि बतला देना संतोष-जनक उत्तर नहीं होगा।

विषय-विवेचन की दृष्टि से भी कुछ स्थल ऐसे हैं, जिन्हें पढ़कर पूर्ण संतोष नहीं होता। पाँचवें सर्ग में दशरथ के वचनों से बद्ध होकर राम-वनयान के समाचार से प्रजा-विद्रोह की कल्पना राम-राज्य के उपयुक्त न होकर आधुनिक शताब्दियों के रावण-राज्य के वातावरण के अधिक उपयुक्त है। इसी प्रकार हनूमान का साकेत से लंका १२ घंटे में पहुँच जाना प्राचीन कवियों में पौराणिक कहा जा सकता था, किंतु बीसवीं शताब्दी के कवि की रचना में आने पर तो इसका कोई वैज्ञानिक कारण ही ढूँढ़ना पड़ेगा। फिर वसिष्ठ का साकेतवासियों को लंका के युद्ध-दृश्य दिखाने के साथ-साथ वहाँ की बातचीत भी सुनवा सकना योग-बल का स्मरण न दिलाकर आजकल के नवीन-से-नवीन आविष्कार, रेडियो तथा टेलीपैथी का स्मरण दिलाता है। खड़ी बोली के इस महाकाव्य में इस ढंग से अद्भुत रस लाने के संबंध में दो मत हो सकते हैं। जो कुछ भी हो, 'साकेत' हिंदी-काव्य-साहित्य की एक स्थायी संपत्ति है। भाषा, कथानक, चरित्र-चित्रण, छंद तथा काव्य-कला आदि के संबंध में आलोचक लोग तरह-तरह की आलोचनाएँ करते रहेंगे, किंतु 'साकेत' लिखा जा चुका है, अतः अब यह इसी अपरिवर्तनशील रूप में हिंदी-साहित्य की शोभा, सहृदय काव्य-प्रेमियों का आनंद तथा बेबस विद्यार्थी-वर्ग की कठिनाइयाँ बढ़ाता रहेगा। यह निश्चय है कि गुप्तजी की यह रचना भाषा,

भाव तथा आदर्शों के क्षेत्र में देशवासियों को आगे बढ़ाने में ही समर्थ होगी। इससे अधिक कोई एक व्यक्ति क्या कर सकता है।

बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में होने वाले खड़ी बोली के प्रथम खेप के कवियों में उपाध्यायजी तथा गुप्तजी प्रमुख हैं। दोनों एक-एक महाकाव्य धरोहर के रूप में हिंदी-साहित्य-भंडार के सिपुर्द किए जा रहे हैं—एक कवि कृष्ण-संबंधी और दूसरे राम-संबंधी। नवीनताएँ होने पर भी भारत की पूर्व-कालीन अमर गाथाओं से ही इन दोनों महाकाव्यों का संबंध है, और यह प्राचीन वातावरण हटाया नहीं जा सका है। मालूम होता है कि बीसवीं शताब्दी के प्रथम प्रतिनिधि महाकाव्य लिखे जाने में अभी देर है।

३–तीन वर्ष[१]

अपने समाज ने अपनी दीर्घकालीन यात्रा में अनेक छोटे-मोटे तूफ़ानों का सामना किया है किंतु उसे दलदल-युक्त दो बहुत ही बड़ी नदियों की यकायक बाढ़ में से गुज़रना पड़ा है। इनमें एक तो मुसलिम संस्कृति का दलदल था और एक आधुनिक यूरोपीय संस्कृति की बाढ़ है। मुसलिम संस्कृति के दलदल में समाज १२०० ईसवी के लगभग घुसा था और छः सौ वर्ष बाद १८०० ईसवी के लगभग निकल सका। पता नहीं इस दलदल में कितने डूब गए, कितने फँस कर रह गए, कितने बह गए। जो लोग दूसरे पार पहुँचे उनमें कितने ज़ख़्मी हो गए, कितनों के हाथ-पैर सुन्न हो गए, कितनों की हिम्मतें टूट गईं, यह बतलाना भी दुस्तर है। जो लोग यह समझते हैं कि हम सही सलामत निकल आए, उन्होंने भारी दलदल से ज़िंदा निकल आने की खुशी में अभी अपने ऊपर अच्छी तरह नज़र ही नहीं डाल पाई है। पैर तो सभी के कीचड़ में सन गए हैं। कपड़े लथड़ गए हैं, हाथ सिवार और काँटों से रुँधे हुए हैं, बाल चिकट गए हैं और चेहरे पर कालिख लग गई है। लोग आर्य नाम लेकर इस दलदल में घुसे थे और हिंदू नाम लेकर निकले, ब्राह्मण और क्षत्रिय घुसे थे, सनौढिया और बघेला होकर निकले, वाल्मीकीय रामायण लेकर घुसे थे तुलसीकृत रामचरितमानस लेकर निकले, यज्ञोपवीत पहिन कर घुसे थे कंठी पहन कर निकले। लेकिन निकल आने वाले लोग सब बेहद खुश हैं—आख़िर निकल तो आए। ठीक ही है।

किंतु एक दलदल से निकलते ही दूसरी बाढ़ में फँस गए। यह दूसरी नदी अधिक तीव्र और अधिक भयंकर है—पश्चिमी संस्कृति की बाढ़। पिछले दलदल ने लोगों के शरीरों को अस्तव्यस्त कर दिया था। इस नदी का जल विशेष नशीला मालूम होता है क्योंकि समाज का अपने मन और मस्तिष्क पर क़ाबू छूटा जा रहा है। आशा इतनी ही है कि यह नदी कदाचित् कम चौड़ी है क्योंकि १८०० के लगभग घुसने के बाद अभी बीसवीं सदी के मध्य में पहुँचने के पहले ही दूसरा किनारा कुछ-कुछ दिखाई पड़ने लगा है—आगे के लोगों की क्षीण आवाज़ें सुनाई पड़ने लगी हैं कि पैर ज़मीन पर कभी-कभी लगने लगे हैं। साहित्य के क्षेत्र में 'तीन वर्ष' जैसी

(१) 'तीन वर्ष' लेखक भगवतीचरण वर्मा। प्रकाशक, लिटरेरी सिन्डीकेट, इलाहाबाद। मूल्य २)

हिंदी की मौलिक कृतियों का प्रकाशन इस बात का द्योतक है कि किनारे पर पहुँचने में अब बहुत देर नहीं है। एक समय था—इसको अभी बहुत दिन नहीं हुए हैं, समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग अभी भी इस अवस्था से गुज़र रहा है—जब पश्चिमी संस्कृति की चकाचौंध ने थोड़ी देर के लिये हमें अंधा कर दिया था। आँख मीच कर पश्चिमी अनुकरण करने के सिवाय हम और सब कुछ भूल गए थे। यह अनुकरण केवल खाने-पीने, कपड़े, लिबास, रहन-सहन तक ही सीमित रहता तो ऐसी भारी हानि नहीं थी। अपनी संस्कृति की जड़ें ही हिल गई थीं—जीवन के—राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक तथा साहित्यिक जीवन के—हम अपने सिद्धांतों को ही भूलने लगे थे। उनके प्रति हमें अश्रद्धा हो चली थी। किंतु अब फिर होश आने लगा है। जिस दिन मैंने यूनिवर्सिटी के कुछ नवयुवक ग्रेजुएटों के मुख से सुना कि वे ग्रेजुएट लड़की से विवाह न करके अधिक से अधिक इंट्रेंस या इंटर पास लड़की से विवाह करना चाहते हैं उसी दिन मैंने सहसा अनुभव किया कि दिमाग़ ठीक होने की तरफ़ है।

श्री भगवतीचरण वर्मा ने 'तीन वर्ष' में सामाजिक संस्कृति की इस अत्यंत महत्वपूर्ण समस्या—स्त्री-पुरुष के बंधन, विवाह के सच्चे आदर्श—के संबंध में देशी और विदेशी आदर्शों के संघर्ष को एक कलाकार के रूप में उपस्थित किया है। जिसने भगवतीचरण जी की 'चित्रलेखा' या 'इंसटालमेंट' को पढ़ा होगा वह इन नवयुवक किंतु होनहार लेखक की लेखन-शैली से मुग्ध हुए बिना न रहा होगा। 'इंसटालमेंट' की कहानियों में लेखन-शैली का चमत्कार था, 'चित्रलेखा' में एक काल्पनिक स्वप्न-जगत है जो जागने तक सच्चा मालूम पड़ता है। 'तीन वर्ष' में शैली और कल्पना के सौंदर्य के साथ-साथ हम लोगों के नित्यप्रति के जीवन से संबंध रखने वाली एक समस्या को नग्न रूप में खड़ा करके उसके विषय में ठंडे दिमाग़ से सोचने की ओर लोगों को उत्तेजित किया गया है। स्वर्गीय श्री प्रेमचंद जी ने अपनी सरल, सुबोध भाषा में लोगों का ध्यान समाज की ग्रामीण तथा निम्न श्रेणी की जनता की अवस्था की ओर पहली बार दिलाया था, भगवतीचरण जी ने अपनी आकर्षक शैली में पढ़े-लिखे लोगोंका ध्यान जीवन के आदर्शों के संबंध में उनके उलझे हुए मस्तिष्कों की ओर आकर्षित किया है। 'तीन वर्ष' निःसंदेह एक अनूठा उपन्यास है।

४—हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग[१]

साहित्य-सेवी सज्जनों को यह विदित ही है कि नागरी प्रचारिणी सभा, काशी की ओर से हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की खोज बहुत दिनों से हो रही है। अब तक (सं० १९८१) से सभा आठ रिपोर्टें प्रकाशित कर चुकी है जिनमें से पहली छः (सन् १९०० से १९०५ तक) तो वार्षिक हैं और शेष दो (सन् १९०६—१९०८ और १९०९—१९११) त्रैवार्षिक हैं। वर्तमान पुस्तक इन्हीं आठ रिपोर्टों में दी हुई हस्तलिखित पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण है। डाक्टर आफ्रेट द्वारा संपादित संस्कृत हस्तलिखित पुस्तकों तथा उनके कर्त्ताओं की, लेखकों की "कैटेलोगस कैटेलोगरम" शीर्षक वृहत् सूची के ढंग पर इसकी रचना की गई है। योरप में यह काम बड़े महत्व का समझा जाता है; क्योंकि इन विवरणों के आधार पर ही पुरानी खोज का उपयोग किया जा सकता है तथा आगे का कार्य भी ठीक-ठीक चल पाता है। इसी कारण इन वृहत् सूचियों के तैयार करने का कार्य बड़े-बड़े विद्वान् अपने हाथ में लेते हैं। हमें यह देखकर अत्यंत प्रसन्नता हुई कि सुप्रसिद्ध हिंदी-सेवी बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए० के हाथ से इस कार्य का संपादन हुआ है। सभा का निश्चय है कि आगे भी ऐसे विवरण प्रति नवें वर्ष प्रकाशित किये जायँ। अतः वर्त्तमान विवरण को 'पहला भाग' नाम दिया गया है।

इस संक्षिप्त विवरण में सब मिलाकर १४५० कवियों और उनके आश्रय-दाताओं का तथा २७५६ ग्रंथों का अकारादिक्रम से उल्लेख है। इस संख्या से ही इस कार्य के विस्तार तथा महत्व का अनुमान किया जा सकता है। अब तक की खोज का अधिकांश कार्य संयुक्तप्रांत में होने के कारण हिंदी साहित्य के मध्यकाल (संवत् १४०० तक) की सामग्री ही विशेष रूप में इस विवरण में पाई जाती है। पुस्तक के अंत में दो परिशिष्ट हैं। प्रथम परिशिष्ट में रिपोर्टों के परिशिष्टों में आए हुए कवियों तथा उनके ग्रंथों की

---

(१) संपादक, श्री श्यामसुंदरदास बी० ए०। प्रकाशक, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी। संवत् १९८०। पहला संस्करण ५००। मूल्य ३), पृष्ठ-संख्या ३०+२०९+४०।

सूची है। साथ में प्रत्येक कवि का कविता-काल, ग्रंथ-निर्माण-काल और लिपिकाल तथा साधारण परिचय भी दे देने से यह परिशिष्ट और भी अधिक उपयोगी हो गया है। द्वितीय परिशिष्ट में रिपोर्टों के परिशिष्टों में आए हुए अज्ञात कवियों के ग्रंथों की सूची लिपिकाल सहित दी गई है। विवरण के आदि में संपादक की प्रस्तावना है जो अत्यंत महत्वपूर्ण है। इस प्रस्तावना से हिंदी साहित्य के संबंध में अनेक नवीन बातों का पता चलता है, जो इस खोज द्वारा प्राप्त हुई हैं। इनमें से कुछ महत्वपूर्ण बातों का हम यहाँ पर उल्लेख कर देना आवश्यक समझते हैं; क्योंकि इस विवरण का साधारणतया अधिक सज्जनों तक पहुँचना दुष्कर है।

हिंदी साहित्य-प्रेमी अब तक यह मानते आए हैं कि भूषण, चिंतामणि, मतिराम तथा नीलकंठ चारों सहोदर भाई थे। एक पिता के सब पुत्रों का सुप्रसिद्ध कवि होना बड़ी आश्चर्य-जनक तथा कौतूहलपूर्ण बात थी, अतः इस पर हिंदी प्रेमी गर्व करते थे। इस प्रस्तावना में संपादक महोदय ने, खोज के एजेंट पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित के एक अत्यंत गवेषणापूर्ण अनुसंधान को विस्तृत रूप से उद्धृत किया है, जिसमें भागीरथजी इस निश्चय पर पहुँचे हैं कि ये चारों कवि भाई नहीं थे। भागीरथ जी का यह नवीन भगीरथ अनुसंधान हिंदी में हलचल मचा देने वाला है। इसके महत्व पर विचार करते हुए प्रस्तावना में दिए हुए भागीरथ जी के लेख के आवश्यक भागों को उद्धृत करना अनुचित न होगा। सरलता लाने के लिये हमने भागीरथ जी के लेख के भिन्न-भिन्न अंशों का क्रम कहीं-कहीं बदल दिया है।

"गत वर्ष जिस समय मैं (पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित) फ़तहपुर ज़िले में भ्रमण कर रहा था उस समय असनी निवासी पं० कन्हैयालाल भट्ट महापात्र के यहाँ, जो कि महाकवि नरहरि महापात्र के वंशज हैं, 'वृत्त-कौमुदी' नामक एक ग्रंथ खोज में मिला था। यह ग्रंथ महाकवि मतिराम का रचा हुआ है। उसका निर्माणकाल वि० सं० १७५८ है जैसा कि इस दोहे से विदित हुआ:—

संवत सत्रह सौ बरस अट्ठावन सुभ साल।
कार्त्तिक शुक्ल त्रयोदसी, करि विचार तेहि काल॥

(वृत्तकौमुदी, Search Report 1920-22)

यह वृत्तकौमुदी ग्रंथ राजवंशावतंस श्री स्वरूपसिंहदेव के हितार्थ रचा गया है:—

वृत्तकौमुदी ग्रंथ की, सरसी सिंह स्वरूप।
रची सुकवि मतिराम सो, पढ़ौ सुनौ कविरूप॥

कवि ने अपने वंशादि का परिचय भी निम्नलिखित पद्यों में दिया है।

तिरपाठी बनपुर बसै, वत्स गोत्र सुनि गेह।
बिबुध चक्र मनि पुत्र तहँ, गिरधर गिरधर देह॥ २१॥
भूमि देव बलभद्र हुव, तिनहिं तनुज मुनि मान।
मंडित मंडित मंडली, मंडन मही महान॥ २२॥
तिनके तनय उदार मति, बिश्वनाथ हुव नाम।
दुतिधर श्रुतिधर को अनुज, सकल गुनन को धाम॥ २३॥
तासु पुत्र मतिराम कवि, निज मति के अनुसार।
सिंह स्वरूप सुजान को बरन्यो सुजस अपार॥ २४॥

इससे प्रतीत होता है कि मतिराम कवि बनपुर निवासी वत्स गोत्रीय पं० चक्रमणि त्रिपाठी के पुत्ररत्न पं० गिरिधर के प्रपौत्र, पं० बलभद्र के पौत्र, पं० विश्वनाथ के पुत्र और पं० श्रुतिधर के भतीजे थे।

"महाकवि भूषण ने भी शिवराज-भूषण में अपने वंशादि का परिचय इस प्रकार दिया है:—

दुज कन्नौज कुल कश्यपी रतनाकर सुत धीर।
बसत तिबिक्रमपुर सदा तरनि तनूजा तीर॥ २६॥
बीर बीरवर जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ बिश्वेश्वर तद्रूप॥ २७॥
कुल सुलंकचित कूटपति साहस सील समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई हृदयराम सुत रुद्र॥ २८॥
(शिवराज-भूषण, छंद २६—२८।)

इससे विदित होता है कि महाकवि भूषण विक्रमपुर निवासी कश्यप गोत्रीय पं० रत्नाकर त्रिपाठी के पुत्र थे।

"हिंदी संसार के पंडित समाज को यह भलीभाँति विदित है कि चिंतामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ या जटाशंकर ये चारों सहोदर भाई माने जाते रहे हैं (शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ४१३)। परंतु उपर्युक्त दोनों

कवियों (भूषण और मतिराम) ने अपने-अपने विषय में जो कथन किया है, उससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि वे दोनों कदापि सहोदर भाई न थे। भूषण कश्यप गोत्रीय और मतिराम वत्स गोत्रीय थे। भूषण के पिता का नाम रत्नाकर था और मतिराम पं० विश्वनाथ के पुत्र थे। अतः जब दोनों के गोत्र और पिता भिन्न-भिन्न थे, तब ये सहोदर भाई कैसे हो सकते हैं ? वे तो एक वंश के भी नहीं थे। संभव है भूषण और मतिराम मामा-फूफी के संबंध से भाई कहलाते हैं। उपर्युक्त कथनों से तो यही प्रतीत होता है कि दोनों कवि एक ग्राम के निवासी भी नहीं थे, क्योंकि भूषण कवि अपने को तिविक्रमपुर निवासी और मतिराम बनपुरवासी लिखते हैं। मिश्रबंधु महोदय ने नवरत्न में इनको तिकवाँपुर, ज़िला कानपुर निवासी लिखा है, जोकि 'तिविक्रमपुर' शब्द का ही अपभ्रंश रूप है। और संभव है, मतिराम ने भी 'तिकवनपुर' का संक्षिप्त रूप 'बनपुर' लिया हो; परंतु इस विषय में निश्चित रूप से कुछ भी नहीं कहा जा सकता। मेरे विचार से 'बनपुर' तिकवाँपुर से भिन्न अंतर्वेद का दूसरा ग्राम है। विनोद में इसका वर्णन किया गया है, (मिश्रबंधु-विनोद, पृष्ठ ५६४)। इंद्रजी त्रिपाठी यहीं हुए जो सं० १७४२ में वर्तमान थे।"

इसके अनतंर भागीरथ जी ने बहुत विस्तार से इस शंका का समाधान किया है कि इस वृत्तकौमुदी ग्रंथ के रचयिता मतिराम, और भूषण के भाई मतिराम भिन्न-भिन्न नहीं; किंतु एक ही व्यक्ति थे। मतिराम और भूषण के सहोदर भाई होने की बात पर भागीरथ जी ने निम्न विचार प्रकट किए हैं।

"जब यह निश्चित हो गया कि भूषण मतिराम सहोदर बंधु नहीं थे, तब स्वभावतः यह प्रश्न होता है कि फिर यह प्रवाद सर्व-साधारण में कैसे फैला। इसका अन्वेषण करने से यही प्रतीत होता है कि ठाकुर शिवसिंह सेंगर कृत शिवसिंह-सरोज की एक कथा से ही यह भ्रम फैला है। उसमें चिंतामणि कवि के वर्णन में लिखा है—'इनके पिता दुर्गा पाठ करने नित्य देवी जी के स्थान पर जाया करते थे। वे देवी बन की भुइयाँ कहलाती हैं। टिकमापुर से एक मील के अंतर पर हैं। एक दिन महारानी राजेश्वरी भगवती प्रसन्न ह्वै चारि मुँह दिखाय बोली, यही चारों तेरे पुत्र होंगे। निदान ऐसा ही हुआ कि (१) चिंतामणि (२) भूषण (३) मतिराम (४) जटाशंकर या नीलकंठ चार पुत्र उत्पन्न हुए। इनमें केवल नीलकंठ महाराज तो एक

सिद्ध के आशीर्वाद से कवि हुए; शेष तीनों भाई संस्कृत काव्य को पढ़ि ऐसे पंडित हुए कि उनका नाम प्रलय तक बाकी रहेगा।' (शिवसिंह-सरोज, पृष्ठ ४१२)।

"यह ग्रंथ १८८३ ई० संवत् १६४० में नवलकिशोर प्रेस में छपा है। इस ग्रंथ के बनाने में भी ठाकुरसाहब को लगभग २० वर्ष से कम कदापि न लगे होंगे। इससे प्राचीन कोई ग्रंथ देखने में नहीं आया जिसमें भूषण और मतिराम को भाई माना गया हो। इसी आख्यायिका के आधार पर सर्वत्र यह भ्रांति फैल गई कि भूषण और मतिराम भाई-भाई हैं। बंगवासी प्रेस से प्रकाशित शिवाबावनी नामक पुस्तक की भूमिका में यही आख्यायिका कुछ-परिवर्तन के साथ दी हुई है। समालोचक और देवनागर पत्रों में भी मिश्र-बंधु महोदय ने भूषण को मतिराम का भाई लिखा है। फिर धर्मामृत तथा सरस्वती आदि पत्रिकाओं में भी भूषण और मतिराम को भाई मानकर ही लेख लिखे गए। नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित शिवराज-भूषण की भूमिका में भी भूषण और मतिराम को भाई ही लिखा गया है, (पृष्ठ ८-१०) डाक्टर ग्रियर्सन ने इंडियन वर्नाक्यूलर लिटरेचर में भी यही वर्णन किया है। मिश्रबंधु महोदय ने अपने प्रसिद्ध ग्रंथ मिश्रबंधु-विनोद (पृष्ठ ५१३), और हिंदी नवरत्न (पृष्ठ ३०७) में भी तथा पंडित रामनरेश त्रिपाठी ने कविता-कौमुदी प्रथम भाग (पृष्ठ २२०) में भी इसी प्रकार उल्लेख किया है।

"इस विषय में मैंने स्वयं भी चिंतामणि, भूषण और मतिराम कृत बहुत से ग्रंथों को इसी विचार से देखा कि शायद कहीं भूषण को मतिराम का भाई बतलाया गया हो, परंतु मेरी यह आशा सफल न हुई। तब श्रीयुत पंडित शुकदेवबिहारी मिश्र और पंडित कृष्णबिहारी मिश्र को इस संबंध में पत्र लिखे। प्रथम महानुभाव ने तो पत्रोत्तर में केवल यही लिखा कि हमने किंवदंती के आधार पर लिखा है। द्वितीय महोदय ने उत्तर दिया कि यह विषय आश्चर्यजनक है। मैंने बहुत-सी पुस्तकों को देखा, परंतु मुझे कहीं भूषण को मतिराम का भाई लिखा नहीं मिला। उन्होंने कुछ ग्रंथों को देखने की राय भी दी जो कि उनके पास नहीं थे और खोज में प्राप्त हो चुके थे, परंतु कई कारणों से मैं उनके देखने में असमर्थ रहा। खोज की रिपोर्टों में आज तक मिले हुए भूषण, मतिराम चिंतामणि और नीलकंठ के किसी ग्रंथ

के उद्धृत भाग में यह वर्णन नहीं मिला। अतः यही मानना पड़ता है कि शिवसिंह-सरोज की आख्यायिका से वह भ्रांति सर्व-साधारण में फैली है।"

"अब तक तो मुझे भूषण और मतिराम के भाई होने ही में संदेह था परंतु अब नीलकंठ या जटाशंकर भी भूषण के भाई प्रतीत नहीं होते। 'वीर-केशरी शिवाजी' नामक ग्रंथ में पंडित नंदकुमार देव शर्मा ने चिंतामणि, भूषण और मतिराम तीन ही भाइयों का ज़िक्र किया है (पृष्ठ ६६२) नीलकंठ को भाई नहीं माना। ज्ञात नहीं उनका इस विषय में क्या आधार है। परंतु मुझे तो मिश्रबंधु-विनोद के ही आधार पर भूषण नीलकंठ के भाई होने में संदेह है। मिश्रबंधु-विनोद (पृष्ठ ४६५) में वर्णित है कि नीलकंठ ने संवत् १६६८ में अमरेश विलास नामक ग्रंथ रचा था। उनकी अवस्था उस समय २५-३० वर्ष से न्यून न होगी; इस कारण उनका जन्म वि० संवत् १६७० के लगभग हुआ जान पड़ता है। और विनोद में भूषण का जन्म वि० संवत् १६६२ माना है। जब भूषण के छोटे भाई नीलकंठ का जन्म १६७० के लगभग है, तो भूषण का जन्म उससे भी पूर्व होना चाहिए था। परंतु विनोदकार इसके ३० वर्ष पीछे मानते हैं जो कि अशुद्ध है। भूषण के वि० संवत् १७९७ तक अवस्थित रहने का एक दृढ़ प्रमाण भी मिला है जो कि आगे दिया जायगा। अतः यह कभी संभव नहीं कि भूषण १३० वर्ष से भी अधिक काल तक जीवित रहे हों और वैसी ही ओजस्विनी भाषा में कविता करते रहे हों जैसी कि शिवराज-भूषण में की है। इससे भी यही प्रमाणित होता है कि नीलकंठ भूषण के भाई न थे। 'इस प्रकार चिंतामणि और भूषण ही किंवदंती के आधार पर केवल भाई रह जाते हैं।' इस किंवदंती में भी कहाँ तक सचाई है, यह अभी नहीं कहा जा सकता।"

इसके अनंतर भागीरथ जी ने भूषण और मतिराम के संबंध में कुछ और भ्रांतियों का निवारण किया है। वे भी यद्यपि रोचक हैं किंतु विस्तार भय से हम उनका यहाँ उल्लेख नहीं कर सकते। यह कहना पड़ेगा कि भागीरथ जी का वक्तव्य विद्वानों के ध्यान देने योग्य है।

'किस-किस कवि के विषय में किन-किन नई बातों का पता लगा है' प्रस्तावना का आकार बढ़ जाने के भय से संपादक महोदय ने इस संबंध में केवल दो-चार बातों का ही उल्लेख किया है। हमें भी इसी भय से

इन दो-चार बातों में भी केवल एक ही को यहाँ उद्धृत करते हैं। यह भूपति कृत दशम स्कंध भागवत के निर्माण-काल के संबंध में है "भूपति कृत दशम स्कंध भागवत का निर्माण काल तीसरी रिपोर्ट में सं० १३४४ (ग—११५) माना गया है; परंतु निम्नलिखित कारणों से १७४४ मानना ही ठीक है—(१) इस ग्रंथ की अठारहवीं शताब्दी से पूर्व की कोई प्रति नहीं पाई जाती। (२) इसकी भाषा बहुत परिमार्जित और आधुनिक ब्रजभाषा के ही समान है। (३) इसमें 'ब्रजभाषा' और 'गुसाईं' शब्दों का प्रयोग हुआ है जो कि सोलहवीं शताब्दी से पूर्व व्यवहार में नहीं आते थे। (४) पंचांग बनाकर देखने से सं० १३४४ का बुद्धवार अशुद्ध और सं० १७४४ का चंद्रवार शुद्ध निकलता है। (५) उर्दू प्रतियाँ हिंदी प्रतियों की अपेक्षा पुरानी मिलती हैं जिनमें निर्माण-काल सं० १७४४ दिया हुआ है। हिंदी और उर्दू प्रतियों में निर्माण-काल इस प्रकार है—हिंदी प्रति में:—

संवत् तेरह सौ भये चारि अधिक चालीस।
मरगेसर सुध एकादशी बुधवार रजनीस ॥

उर्दू प्रति में—

संवत् सत्रह सै भये चार अधिक चालीस।
मृगसिर की एकादशी सुद्धवार रजनीश ॥

उर्दू से हिंदी लिपि में लिखने और लिपिकर्त्ता के काशीनिवासी होने के कारण बहुत से शब्दों को बिगाड़ कर अवधीरूप दे दिया है; अवीधी, जवई, बहीनी और चारी इत्यादि इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। उक्त भागवत् में आदि से अंत तक ऐसे प्रयोग भरे पड़े हैं। दीर्घ आकार का प्रयोग इस प्रति में कहीं नहीं किया; अतः भाषा प्राचीन-सी मालूम होती है, परंतु यथार्थ में परिष्कृत है। (छ—१३८) में वर्णित रामचरित्र रामायण भी उक्त भूपति कृत ही बताया गया है। उसमें संवत् आदि कुछ नहीं है और न वह इन भूपति का बनाया हुआ ही प्रतीत होता है। उपर्युक्त कारणों से भूपति का काल संवत् १७४४ के लगभग ही माना गया है।"

इन उद्धृत अंशों से इस प्रस्तावना के महत्व का तो पता चलता ही है साथ ही यह भी सिद्ध होता है कि हिंदी साहित्य के सच्चे इतिहास के निर्माण के लिये सभा का हस्तलिखित पुस्तकों की खोज का कार्य कितना आवश्यक है। सभा खोज का कार्य बराबर कर रही है। आठ रिपोर्टों के अतिरिक्त, जो

प्रकाशित हो चुकी हैं और जिनमें १९११ तक की खोज का समावेश है, तीन अन्य रिपोर्टें भी तैयार हो गई हैं। नवीं रिपोर्ट छप गई है, किंतु अभी प्रकाशित नहीं हुई है; दसवीं और ग्यारहवीं रिपोर्टें संयुक्तप्रांत की गवर्नमेंट के पास विचारार्थ गई हुई हैं। संयुक्तप्रांत की गवर्नमेंट खोज के काम के लिये २०००) वार्षिक सहायता देती है। पंजाब की गवर्नमेंट ने भी गत तीन वर्षों से अपने प्रांत में खोज के लिये ५००) वार्षिक सहायता देना प्रारंभ किया है। किंतु दस करोड़ हिंदी-भाषी लोगों के साहित्य की खोज के लिये, जो प्रायः एक सहस्र वर्षों में फैला हुआ है और जो संयुक्तप्रांत, मध्यप्रांत, मध्यभारत, बिहार, राजस्थान, तथा पंजाब जैसे विशाल भूमि-भागों में बिखरा पड़ा है, २५००) वार्षिक व्यय नहीं के बराबर है। हस्तलिखित पोथियों के जीर्ण होकर नष्ट हो जाने के भय के कारण अत्यंत आवश्यक है कि यह कार्य शीघ्र ही पूर्ण हो जावे। हमें विश्वास है कि हिंदी भाषा के अनुरागी सज्जन इस अत्यंत आवश्यक कार्य की ओर ध्यान देंगे।

इस हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों के संक्षिप्त विवरण को इतनी सफलता-पूर्वक संपादित करने पर हम श्री श्यामसुंदरदास जी को बधाई देते हैं। हमें विश्वास है कि इसके अन्य भाग भी आपके ही योग्य हाथों से संपादित होकर निकलेंगे। पुस्तक में यत्रतत्र प्रूफ़ की कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं। सभा की पुस्तकों में तो एक भी अशुद्धि नहीं रहनी चाहिए थी।

५—उर्दू से संबंधित तीन हिंदी पुस्तकें[१]

उर्दू से संबंध रखने वाली ये तीनों पुस्तकें अपने ढंग की अलग-अलग हैं।

त्रिपाठी जी की पुस्तक में उर्दू भाषा तथा उर्दू कविता की रूपरेखा का संक्षिप्त वर्णन है। उर्दू कविता की विशेषताओं का परिचय सुयोग्य लेखक ने अत्यंत सहृदयता के साथ दिया है। लेखक की कविता-कौमुदी के उर्दू भाग की भूमिका के अतिरिक्त मुझे इस विषय पर इस प्रकार के सुंदर विवेचन का स्मरण नहीं। उर्दू भाषा से संबंध रखने वाले अंश में लेखक ने हिंदुस्तानी के विषय में अपने चिरपरिचित विचार यदि न दिए होते तो अच्छा होता। स्थायी साहित्य से व्यक्तिगत विवादास्पद मतभेदों को बचा जाना अच्छा होता है। हिंदी-उर्दू के आपस के संबंध के विषय में पुस्तक की प्रस्तावना के लेखक पं० अमरनाथ झा के निम्नलिखित विचार ग्रंथ-लेखक के मत की काट करते हैं—"ऐतिहासिक और शब्द-वैज्ञानिक दृष्टि से तथ्य चाहे कुछ भी हो, आज तो हिंदी और उर्दू दो भिन्न भाषाएँ हैं......"। "सच तो यह है कि उर्दू हिंदुस्तान की भाषा होने ही नहीं पाई, न भाव में, न विषय में, न शब्द में। यह ईरान और अरब के साहित्य की एक शाखामात्र है। हम इसे पढ़ते हैं, हम इसका रसास्वादन करते हैं—अंग्रेज़ी को भी हम रुचि से पढ़ते हैं। हम में से कुछ फ्रेंच और जर्मन भी पढ़ा करते हैं; परन्तु ये हमारी भाषाएँ तो नहीं हैं?"

जो हो, त्रिपाठी जी की पुस्तक अत्यंत उपयोगी है। और हिंदी प्रेमियों को इससे लाभ उठाना चाहिए। पुस्तक का नाम "उर्दू और उसकी कविता" कदाचित् अधिक सार्थक होता।

मक्तबा जामिआ, देहली से प्रकाशित "हिंदुस्तानी" शीर्षक पुस्तक में

---

(१) १—**उर्दू ज़बान का संक्षिप्त इतिहास**—लेखक, रामनरेश त्रिपाठी। प्रकाशक, हिंदी मंदिर, प्रयाग। मू० ॥)

२—**हिंदुस्तानी**—प्रकाशक, मक्तबा जामिआ, देहली। मू० ।॥)

३—**उर्दू का रहस्य**—लेखक, चंद्रवली पांडे। प्रकाशक, काशी नागरी प्रचारिणी सभा। मू० ।॥)

आल इंडिया रेडियो, देहली से 'हिंदुस्तानी क्या है ?' इस विषय पर करायी गई 'छः तक़रीरों' का संग्रह है। ये छः सज्जन हैं—डा० ताराचंद, डा० मौलवी अब्दुल हक़, बाबू राजेंद्रप्रसाद, डा० जाकिर हुसैन ख़ाँ, पं० ब्रजमोहन दत्तात्रेय कैफी और आसफ़अली साहब। छः सज्जनों में तीन हिंदू और तीन मुसलमान विद्वान् कदाचित् इसलिये रखे गए हैं कि जिससे हिंदुओं को आश्वासन दिया जा सके कि स्वयं हिंदू विद्वानों का अमुक मत है। लेकिन अब इससे धोके में हिंदी जानने वाले हिंदू आसानी से नहीं आ सकते। वास्तव में हिंदी का विद्वान् और इसलिये हिंदी के दृष्टिकोण से हिंदुस्तानी पर प्रकाश डालने वाला व्यक्ति इनमें से एक भी नहीं माना जा सकता।

डा० ताराचंद ने अपनी तक़रीर ताराचंदी-हिंदुस्तानी-शैली में लिखी है और वे कदाचित् उसे ही आदर्श हिंदुस्तानी मानते हैं। आल-इंडिया रेडियो के हिंदी आलिमों ने बेचारे डाक्टर साहब के हिंदी शब्दों की कहीं-कहीं अत्यंत दुर्गति कर डाली है। मुझे पूर्ण विश्वास है कि स्वयं डा० ताराचंद साहब ऐसी भूलें नहीं कर सकते हैं। उदाहरण के लिये निम्न-लिखित वाक्य को देखिए:—"अगर हमने विद्याओं की प्रिय भाषाएँ उर्दू और हिंदी में इकसां कर दीं तो आगे चल कर यह नतीजा होगा कि इनके साहित्यों की जबान भी इकसां हो जायगी।" ये 'विद्याओं की प्रिय भाषाएँ' कदाचित् पाठकगण नहीं समझ पाए होंगे। मैं स्वयं बहुत देर तक नहीं समझ पाया किंतु एक अन्य स्थल पर जब निम्नलिखित वाक्य पढ़ा:—"हिंदी-उर्दू के लिखने वाले इन खास लफ़्ज़ों के लिये जिन्हें प्रिय भाषक शब्द या इसतलाहें कहते हैं एक ही लफ़्ज़ मान लें।" तब समझ में आया कि यह 'पारिभाषिक' तथा 'परिभाषाएँ' शब्दों के नए अपभ्रंश रूप हैं! इस तरह के अनेक उदाहरण डा० ताराचंद की तक़रीर में आल इंडिया रेडियो की कृपा से बिखरे पड़े हैं। जैसे "लेकिन सच यह है कि संस्कृत में सैकड़ों अना-रिया लफ़्ज़ भरे हैं।" ध्यान देने पर पता चल सकेगा कि इस अनार्य शब्द की किसी अनाड़ी द्वारा ही दुर्गति हुई है। "लफ़्ज़ों की महान्ता को बढ़ाना सोने को छोड़ टाटे पर जी लगाना है।" इत्यादि। विद्वान् लेखक के अनुसार साहित्य में भद्दापन जब (तब) ही आता है जब लिखने वाला अनमेल बेजोड़ लफ़्ज़ों को मिलाता है। डाक्टर साहब की इस स्वयं निर्धारित कसौटी पर कसने से ताराचंदी-हिंदुस्तानी को भद्दी या भदेस शैली ही कहना पड़ेगा।

उर्दू के प्रसिद्ध विद्वान् डा० मौलवी अब्दुल हक़ के अनुसार "आसान उर्दू का नाम हिंदुस्तानी हुआ।" आगे चल कर आप फ़र्माते हैं—"इसके बाद अगर कोई मुझ से पूछेगा कि हिंदुस्तानी ज़बान किसे कहते हैं तो मैं इसके जवाब में यह कहूँगा कि जिस ज़बान में मैंने आज तक़रीर की है वह यही हिंदुस्तानी है।" मौलवी साहब की तक़रीर से प्रारंभ के दो-तीन वाक्य उद्धृत कर देने से पाठकगण उनके अनुसार हिंदुस्तानी क्या है इसका अर्थ स्पष्ट रूप में समझ लेंगे—"ज़बान के मानों में हिंदुस्तानी का लफ़्ज़ हमारे किसी मुस्तनद शायर या अदीब या अहले ज़बान ने कभी इस्तैमाल नहीं किया है। यह यूरुप वालों की उपज है। यूरुप के सैयाहों ने जो सत्रहवीं सदी में इस मुल्क में आने शुरू हुए इस ज़बान को जो शुमाली हिंद में आम तौर से बोली जाती थी, इंदुस्तान, इंदुस्तानी और बादअज़ाँ हिंदुस्तानी के नाम से मौसूम किया है लेकिन इस लफ़्ज़ को ईस्ट इंडिया कंपनी के ज़माने में उस वक़्त फ़रोग हुआ जब १८०० ई० में कलकत्ते में फ़ोर्ट विलियम कालिज क़ायम हुआ।" "......हिंदुस्तानी से इनकी मुराद वह साफ़ और फ़सीह ज़बान जो बोलचाल में आती थी, यानी ऐसी ज़बान जो मुकफ़्फ़ा, मुसज्जा और पुर तकल्लुफ़ न हो।"

आल इंडिया रेडियो देहली ने दो तर्जुमे भी इन साहबों को भेजे थे कि "उनकी इबारत की बुराई-भलाई बताएँ ताकि अंदाज़ा हो सके कि रेडियो पर कैसी ज़बान बोली जाय ?" तर्जुमे ये हैं:—

१—'फेड्रल लेजिस्लेचर के लिये फ़ेहरिस्त राय दाहिंदगान तैयार करने के सिलसिले में जो इब्तदाई कार्रवाई की जायगी उसके बारे में सर एन० एन० सरकार ला मेम्बर ने आज असेंबली में रोशनी डाली।'

२—'संयुक्त प्रांतीय व्यवस्थापिका परिषद् में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए न्याय मंत्री डाक्टर काटजू ने उन उद्योग धंधों की सूची दी जिनकी उन्नति के लिये सरकार ने सहायता देना स्वीकार किया है।'

डाक्टर मौलवी अब्दुलहक़ के अनुसार हिंदुस्तानी शैली की दृष्टि से पहले अनुवाद की भाषा साधारणतया ठीक है किंतु दूसरे अनुवाद के बारे में उनका कहना है—"इस जुमले में संस्कृत लफ़्ज़ों की भरमार है और मतलब समझ में नहीं आता। यह हमारी ज़बान नहीं। यह सरासर बनावटी ज़बान है।"

बाबू राजेंद्रप्रसाद ने अपने भाषण में हिंदुस्तानी के संबंध में कांग्रेस का—दूसरे शब्दों में महात्मा गांधी तथा काका कालेलकर का—दृष्टिकोण स्पष्ट करने का यत्न किया है। उन्होंने पहले अनुवाद की भाषा को कांग्रेस कसौटी के अनुसार सफल हिंदुस्तानी नहीं माना है। दूसरे अनुवाद के संबंध में हिंदी-साहित्य सम्मेलन के इन भूतपूर्व सभापति का निम्नलिखित विचार है—

"इसमें जहाँ तक मैं समझता हूँ व्याकरण तो हिंदुस्तानी ही का इस्तैमाल हुआ है। मगर जो शब्द आए हैं वह संस्कृत के हैं और ऐसा मालूम पड़ता है कि जैसी फ़ारसी, अरबी के लफ़्ज़ जान-बूझ कर निकाले गए हैं। 'प्रश्न' और 'उत्तर' 'सूची' और 'सहायता' संस्कृत के शब्द हैं। फ़ारसी और अरबी से लिये गए सवाल, जवाब, फेहरिस्त और मदद कुछ कम चालू नहीं हैं। 'उद्योग-धंधों' के बदले में सिर्फ़ धंधा काफी हो सकता है।" हिंदुस्तानी के संबंध में कांग्रेस का दृष्टिकोण तथा नीति बाबू राजेंद्रप्रसाद की उपर्युक्त आलोचना से बहुत ही स्पष्ट हो जाती है। खेद यह है कि हिंदी-प्रेमी स्वार्थ अथवा भ्रमवश कभी-कभी भुलावे में आ जाते हैं। सौभाग्य से अब तो लोगों की आँखें खुल गई हैं।

डा॰ ज़ाकिर हुसैन ख़ाँ ने 'रानी केतकी की कहानी' या 'ठेठ हिंदी का ठाठ' की शैली से मिलती-जुलती शैली में अपनी तक़रीर लिखी है और उसी को आदर्श हिंदुस्तानी माना है। पं॰ व्रजमोहन दत्तात्रेय की तक़रीर में कोई महत्वपूर्ण बात नहीं है। पता नहीं हिंदुस्तानी के संबंध में इनके विचार किस कारण से मान्य समझे जा सकते हैं। आसफ़अली साहब का कहना है कि "मेरी सारी रामकहानी का निचोड़ यह है कि उर्दू-हिंदी हिंदुस्तानी तीन अलग जबानें हैं। उर्दू तो बनी बनाई है और हिंदी भी अब बन चुकी है। इन दोनों के संयोग से जो गंगा-यमुनी जबान बनने वाली है वह हिंदुस्तानी है।"

वास्तव में हिंदुस्तानी के संबंध में इन छः तक़रीरों को पढ़ कर अंधों द्वारा हाथी के वर्णन की कहानी का स्मरण हो आता है।

पं॰ चंद्रवली पांडे की 'उर्दू का रहस्य' शीर्षक पुस्तक में लेखक के इस विषय से संबंध रखने वाले दस लेखों का संग्रह है, जिनमें से अधिकांश पत्र-पत्रिकाओं में छप चुके हैं। इसी कारण कहीं-कहीं पिष्टपेषण भी हो गया है।

पांडे जी के विचारों से हिंदी पाठक भली प्रकार परिचित हैं। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की कृपा से पांडे जी का इस विषय संबंधी साहित्य पुस्तकाकार प्रकाशित हो गया है। हिंदी के संकट के दिनों में पांडे जी के पुष्ट कार्यों से कितनी अधिक सहायता मिली यह भविष्य के हिंदी इतिहास लेखक भली प्रकार आँकेंगे।

६—भाषण[1]

अनेक वयोवृद्ध साहित्य महारथियों के रहते हुए हिंदी प्रेमियों ने इस परिषद् के सभापति के रूप में जो मुझे चुनकर भेजा है इसका उद्देश्य कदाचित् नई पीढ़ी को प्रोत्साहित करना तथा उनके दृष्टिकोण को समझना मात्र है। कार्य भार उठाने के लिये बड़े-बूढ़े नवयुवकों को ऐसी ही युक्तियों से तैयार किया करते हैं। जो हो, गुरुजनों की आज्ञा शिरोधार्य है। मैं इस अवसर-प्रदान तथा आदरभाव के लिये साहित्य सेवियों का अभारी हूँ।

हमारी अत्यंत प्राचीन भाषा का नया कलेवर — मेरा तात्पर्य यहाँ खड़ी-बोली हिंदी से है—तथा उसका साहित्य इस समय कुछ असाधारण परिस्थितियों में होकर गुज़र रहा है। इन नवीन परिस्थितियों के परिणाम-स्वरूप अनेक नई समस्याएँ, नई उलझनें, नए भ्रम हमारी भाषा और साहित्य के संबंध में हिंदियों तथा अहिंदियों दोनों ही के बीच में फैल रहे हैं। अपनी भाषा और अपने साहित्य के भावी हित की दृष्टि से इनमें से कुछ प्रधान समस्याओं की ओर मैं आपका ध्यान आकर्षित करना चाहूँगा। बात ज़रा बचकानी-सी मालूम होती है किंतु मेरी समझ में हिंदी भाषा और साहित्य के संबंध में बहुत-सी वर्त्तमान समस्याओं का प्रधान कारण हिंदी की परिभाषा, नाम तथा स्थान के संबंध में भ्रम अथवा दृष्टिकोण का भेद है अतः सब से पहले इनके विषय में यदि हम और आप सुथरे ढंग से सोच सकें तो उत्तम होगा।

आप कहेंगे कि हिंदी की परिभाषा के संबंध में मतभेद ही क्या हो सकता है, किंतु वास्तव में मतभेद नहीं तो समझ का फेर कहीं पर अवश्य है। हिंदी सेवियों का एक वर्ग हिंदी भाषा शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में करता है दूसरा वर्ग उसका प्रयोग कदाचित् भिन्न अर्थ में करता है। देश में हिंदी भाषा के रूप के संबंध में भिन्न-भिन्न धाराएँ फैली हुई हैं। क्योंकि हम लोग हिंदी साहित्य परिषद् के रंगमंच पर बैठे हुए विचार-विनियम कर रहे हैं, अतः हमारे लिये हिंदी भाषा का प्रधानतया वह रूप महत्वपूर्ण है जिसमें हमारा

(१) हिंदी साहित्य सम्मेलन के सत्ताईसवें अधिवेशन शिमला के साहित्य परिषद् के सभापति के पद से दिया गया।

साहित्य लिखा गया था तथा आज भी लिखा जा रहा है। मेरा तात्पर्य चंद, कबीर, तुलसी, सूर, नानक, विद्यापति, मीरा, केशव, बिहारी, भूषण, भारतेंदु रत्नाकर, प्रेमचंद, प्रसाद की भाषा से है। इनकी ही रचनाओं को तो आप हिंदी साहित्य की श्रेणी में रखते हैं तथा इन रचनाओं की भाषा को ही तो आप साहित्य के क्षेत्र में हिंदी भाषा नाम देते हैं। इस दृष्टिकोण से मैं हिंदी भाषा की एक परिभाषा आपके सामने रख रहा हूँ। हिंदी प्रेमियों से मेरा अनुरोध है कि वे इस परिभाषा के प्रत्येक अंश पर ध्यानपूर्वक विचार करें और यदि इसे ठीक पावें तो अपनावें, यदि अपूर्ण अथवा किसी अंश में त्रुटिपूर्ण पावें तो विचार-विनिमय के उपरांत उसे ठीक करें। हिंदी के क्षेत्र में कार्य करने वालों के पथप्रदर्शन के लिये यह नितांत आवश्यक है कि हम और आप स्पष्ट रूप से समझे रहें कि आख़िर किस हिंदी के लिये हम और आप अपना तन मन धन लगा रहे हैं। हिंदी भाषा की यह परिभाषा निम्नलिखित है—

"व्यापक अर्थ में हिंदी उस भाषा का नाम है जो अनेक बोलियों के रूप में आर्यावर्त्त के मध्यदेश अर्थात् वर्त्तमान हिंदप्रांत (संयुक्तप्रांत), महाकोसल, राजस्थान, मध्यभारत, बिहार, दिल्ली तथा पूर्वी पंजाब प्रदेश की मूल जनता की मातृभाषा है। इन प्रदेशों के प्रवासी भाई भारत के अन्य प्रांतों तथा विदेशों में भी आपस में अपनी मातृभाषा का प्रयोग करते हैं। हिंदी भाषा का आधुनिक प्रचलित साहित्यिक रूप खड़ी बोली हिंदी है जो मध्यदेश की पढ़ी-लिखी मूल जनता की शिक्षा, पत्र-व्यवहार तथा पठनपाठन की भाषा है और साधारणतया देवनागरी लिपि में लिखी व छापी जाती है। भारतवर्ष की अन्य प्रांतीय भाषाओं के समान खड़ी बोली हिंदी तथा हिंदी की लगभग समस्त बोलियों के व्याकरण, शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श आदि का प्रधान आधार भारत की प्राचीन संस्कृति है जो संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि के रूप में सुरक्षित है। ब्रजभाषा, अवधी, मैथिली, मारवाड़ी, गढ़वाली, आदि हिंदी के ही प्रादेशिक अथवा वर्गीय रूप हैं।"

इस तरह हम यह पाते हैं कि यद्यपि हिंदी की प्रादेशिक तथा वर्गीय बोलियों में आपस में कुछ विभिन्नता है किंतु आधुनिक समय में लगभग इन समस्त बोलियों के बोलने वालों ने हिंदी के खड़ी बोली रूप को साहित्यिक माध्यम के रूप में चुन लिया है और इसी साहित्यिक खड़ी बोली हिंदी के द्वारा आज हमारे कवि, लेखक, पत्रकार, व्याख्याता आदि अपने-अपने विचार

प्रकट कर रहे हैं। कभी-कभी मुझे यह उलाहना सुनने को मिलता है कि हिंदी भाषा का रूप इतना अस्थिर है कि हिंदी भाषा किसे कहा जाय यह समझ में नहीं आता। मेरा उत्तर है कि यह एक भ्रममात्र है। साहित्यिक दृष्टि से यदि आप आधुनिक हिंदी के रूप को समझना चाहते हैं तो कामायानी, साकेत, प्रियप्रवास, रंगभूमि, गढ़कुंडार आदि किसी भी आधुनिक साहित्यिक कृति को उठा लें। व्यक्तिगत अभिरुचि तथा शैली के कारण छोटी छोटी विशेषताओं का रहना तो स्वाभाविक है किंतु यों आप इन सब में समान रूप से एक ऐसी विकसित, सुसंस्कृत तथा टकसाली भाषा पावेंगे कि जिसके व्याकरण, शब्दसमूह, लिपि तथा साहित्यिक आदर्श में आपको कोई प्रधान भेद नहीं मिलेगा। यह साहित्यिक हिंदी प्राचीन भारत की संस्कृत, पाली, प्राकृत तथा अपभ्रंश आदि भाषाओं की उत्तराधिकारिणी है और कम से कम अभी तक तो भारतीय भाषाओं के क्षेत्र में अपने ऐतिहासिक प्रतिनिधित्व को क़ायम रक्खे हुए है। संभव है कि आप में से कुछ लोग सोच रहे हों कि साहित्य परिषद् में भाषा संबंधी इस विस्तार की क्या आवश्यकता थी। साहित्य के लिये भाषा का माध्यम अनिवार्य है अतः भाषा के रूप तथा आदर्शों के संबंध में भ्रम अथवा मतभेद अंत में साहित्य के विकास में घातक हो सकता है। इसीलिये सबसे पहले इस संभव भ्रम की ओर मुझे आपका ध्यान आकर्षित करना पड़ा।

हिंदी के संबंध में दूसरी गड़बड़ी उसके नाम के विषय में कुछ दिनों से फैल रही है। कुछ लोग यह कहते सुने जाते हैं कि आख़िर नाम में क्या रखा है। एक हद तक यह बात ठीक है किंतु आप अपने पुत्र का नाम रहीम ख़ाँ रखें अथवा रामस्वरूप इससे कुछ तो अंतर हो ही सकता है। व्यक्तियों का प्रायः एक निश्चित नाम होता है। रहीम ख़ाँ उर्फ़ रामस्वरूप का चलन आपने कम देखा सुना होगा। इसके अतिरिक्त नामकरण संस्कार के उपरांत, अथवा आजकल की परिस्थिति के अनुसार स्कूल में नाम लिखाने के बाद से, वही नाम आजीवन व्यक्ति के साथ चलता रहता है। व्यक्ति के जीवन में कई बार नाम बदलना अपवाद-स्वरूप है। यह बात भाषाओं के नाम पर भी लागू होती है। अभी कुछ दिन पहले तक जब मध्यदेशीय साहित्य की भाषा प्रधानतया ब्रज तथा अवधी थी उस समय हिंदी के लिये 'भाषा' या 'भाखा' शब्द का प्रयोग प्रायः किया जाता था। इसके साथ

प्रदेश का नाम जोड़कर अक्सर ब्रजभाषा, अवधी भाषा आदि रूपों का व्यव-
हार हमें मिलता है। गत सौ, सवा सौ वर्ष से जब से हिंदी के खड़ी बोली
रूप को हम मध्यदेशवासियों ने अपने साहित्य के लिये अपनाया तब से हमने
अपनी भाषा के इस आधुनिक साहित्यिक रूप का नाम हिंदी रखा। तब से अब
तक इस नाम के साथ कितना इतिहास, कितना मोह, कितना आकर्षण
बढ़ता गया इसे बतलाने की यहाँ आवश्यकता नहीं है। भला हो या बुरा
हो, अपना हो या व्युत्पत्ति की दृष्टि से पराया हो, हमारी भाषा का यह नाम
चल गया और चल रहा है। स्वामी दयानंद सरस्वती का दिया आर्यभाषा
नाम निःसंदेह अधिक वैज्ञानिक था तथा मध्यदेशीय संस्कृति के अधिक
निकट था, किंतु वह नहीं चल सका और वह बात वहाँ ही समाप्त हो गई।
किंतु इधर हमारी भाषा के नाम के संबंध में अनेक दिशाओं से प्रयास होते
दिखलाई पड़ रहे हैं। मेरा संकेत यहाँ तीन नए नामों की ओर है—अर्थात्
हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी तथा राष्ट्रभाषा। यदि ये नाम इस श्रेणी के होते
जैसे हम अपने पुत्र रामप्रसाद को प्रेमवश मुनुआ, पुतुआ और बेटा नामों से
भी पुकार लेते हैं तब तो मुझे कोई आपत्ति नहीं थी। किंतु, मुनुआ, पुतुआ
तथा बेटा—रामप्रसाद के स्थान पर चलवाना मेरी समझ में अनुचित है। यह
भी स्मरण रखने की बात है कि नाम परिवर्त्तन संबंधी यह उद्योग हिंदी भाषा
और साहित्य के प्रेम के कारण नहीं है। इनमें से कोई भी नाम किसी प्रसिद्ध
हिंदी साहित्य सेवी की ओर से नहीं आया है। इस विचार के सूत्रधार प्रायः
देश के राजनीतिक हित-अनहित की चिंता रखने वाले महापुरुष हैं। हमारी
भाषा के नाम के साथ यह खिलवाड़ करना अब उचित नहीं प्रतीत होता।
हमारे राजनीतिक पंडित यदि यह सोचते हों कि हिंदी का नाम बदल कर वे
उसे किसी दूसरे वर्ग के गले उतार सकेंगे तो यह उनका भ्रम मात्र है।
प्रत्येक हिंदी का विद्यार्थी यह जानता है कि 'हिंदी' नाम प्रारंभ में खड़ी बोली
उर्दू भाषा के लिये प्रयुक्त होता था। हमने अपनी भाषा के लिये जब यह नाम
अपनाया, तो दूसरे वर्ग ने हिंदी छोड़कर हिंदुस्तानी अथवा उर्दू नाम रख
लिया। यदि हम हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अथवा उर्दू नाम से भी अपनी
भाषा को पुकारने लगें तो दूसरा वर्ग हटकर कहीं और जा पहुँचेगा।
'राष्ट्रभाषा' जैसे ठेठ भारतीय नाम को तो दूसरे वर्ग द्वारा स्वीकृत करवाना
असंभव है। समस्या वास्तव में नाम की नहीं है, भाषा-शैली की है। यदि

आप खड़ी बोली उर्दू-शैली को तथा तत्संबंधी सांस्कृतिक वातावरण को स्वीकृत करने को उद्यत हों तो मैं विश्वास दिलाता हूँ कि दूसरे वर्ग को हिंदी नाम भी फिर से स्वीकृत करने में आपत्ति नहीं होगी। किंतु क्या हम से अपनी भाषा-शैली तथा साहित्यिक संस्कृति छुड़ाई जा सकती है? इसका उत्तर स्पष्ट है। संभव है कि कुछ व्यक्ति छोड़ दें किंतु भारत जब तक भारत है तब तक देश नहीं छोड़ेगा। राजनीतिक सुविधाओं के कारण हमारी भाषा से सहानुभूति रखने वाले राजनीतिज्ञों से मेरा सादर अनुरोध है कि वे हमारी भाषा के संबंध में यह एक नई गड़बड़ी उपस्थित न करें। यदि इससे कोई लाभ होता तब तो इस पर विचार भी किया जा सकता था किंतु वास्तव में हिंदी को हिंदी-हिंदुस्तानी, हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नामों से पुकारने से हिंदी-उर्दू की समस्या हल नहीं होगी। इस समस्या को सुलझाने का एक ही उपाय था—या तो स्वर्गीय प्रसादजी से स्वर्गीय इक़बाल की भाषा में साहित्य रचना करवाना अथवा स्वर्गीय इक़बाल से स्वर्गीय प्रसाद की भाषा में रचना करवाना। यदि इसे आप असंभव समझते हों तो हिंदी-उर्दू के बीच में एक नए नाम के गढ़ने से कोई फल नहीं। हिंदुस्तानी अथवा राष्ट्रभाषा नाम के कारण हिंदी की साहित्यिक-शैली के संबंध में कुछ लेखकों के हृदय में भ्रम फैलने लगा है इसी कारण मुझे अपनी साहित्यिक भाषा के नाम के संबंध में आपका इतना समय नष्ट करने का साहस हुआ।

तीसरी समस्या जिसका मैंने ऊपर उल्लेख किया है, हिंदी भाषा और साहित्य के स्थान की समस्या है। जिस तरह प्रत्येक भाषा का एक घर होता है—बंगाली का घर बंगाल है, गुजराती का गुजरात, फ़ारसी का ईरान, फ्रांसीसी का फ्रांस—उसी प्रकार हिंदी भाषा और साहित्य का भी कोई घर है या होना चाहिए यह बात प्रायः भुला दी जाती है। इधर कुछ दिनों से हिंदी के राष्ट्रभाषा अर्थात् अखिल भारतवर्षीय अंतर्प्रांतीय भाषा होने के पहलू पर इतना अधिक ज़ोर दिया गया है कि उसके घर की तरफ़ हमारा ध्यान ही नहीं जाता। वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य के दो पहलू हैं—एक प्रादेशिक तथा दूसरा अंतर्प्रांतीय। हिंदी भाषा का असली घर तो आर्यावर्त्त के मध्यदेश में गंगा की घाटी में है जो आज विचित्र रूप से अनेक प्रांतों तथा देशी राज्यों में विभक्त है। हमारी भाषा और साहित्य की रचना के प्रधान केंद्र संयुक्तप्रांत महाकोसल, मध्यभारत, राजस्थान, बिहार, दिल्ली तथा पंजाब में हैं। यहाँ की

पढ़ी-लिखी जनता की यह साहित्यिक भाषा है—राजभाषा तो अभी नहीं कह सकते। इन प्रदेशों के बाहर शेष भारत की जनता की साहित्यिक भाषाएँ भिन्न हैं, जैसे बंगाल में बँगला, गुजरात में गुजराती, महाराष्ट्र में मराठी आदि। इन अन्य प्रदेशों की जनता तो हिंदी को प्रधानतया अंतर्प्रांतीय विचार-विनिमय के साधन-स्वरूप ही देखती है। प्रत्येक की अपनी-अपनी साहित्यिक भाषा है किंतु अंतर्प्रांतीय कार्यों के लिये कुछ लोगों के द्वारा उन्हें हिंदी सीख लेने की आवश्यकता भी जान पड़ती है। हम हिंदियों की साहित्यिक भाषा भी हिंदी है, और अंतर्प्रांतीय भाषा भी हिंदी ही है। हिंदी के बनने-बिगड़ने से एक बंगाली, गुजराती या मराठी की भाषा या साहित्य पर कोई विशेष प्रभाव नहीं पड़ता, इसलिये हिंदी के संबंध में विचार करते समय उसका एक तटस्थ व्यक्ति के समान दृष्टिकोण होना स्वाभाविक है। किंतु हिंदी भाषा या साहित्य के बनने-बिगड़ने पर हम हिंदियों की भविष्य की पीढ़ियों का बनना-बिगड़ना निर्भर है। उदाहरणार्थ अंतर्राष्ट्रीय कार्यों के लिये भारतीय, ईरानी, जापानी आदि सभी कामचलाऊ अंग्रेज़ी सीख लेते हैं और योग्यतानुसार सही ग़लती प्रयोग करते रहते हैं किंतु एक अंग्रेज़ का अपनी भाषा के हित अनहित के संबंध में विशेष चिंतित होना स्वाभाविक है। इस संबंध में एक आदरणीय विद्वान् ने एक निजी पत्र में अपने विचार बहुत ज़ोरदार शब्दों में प्रकट किए हैं। उनके ये सदा स्मरण रखने योग्य वचन निम्नलिखित हैं—"मैं कहता हूँ क्यों हिंदी को हिंदी नहीं कहा जाता, क्यों मातृभाषा नहीं कहा जाता, क्यों इस बात को स्वीकार करने में हम हिचकते हैं कि उसके द्वारा करोड़ों का सुख-दु:ख अभिव्यक्त होता है; राष्ट्रभाषा अर्थात् तिजारत की भाषा, राजनीति की भाषा, कामचलाऊ भाषा यही चीज़ प्रधान हो गई और मातृभाषा, साहित्य भाषा, हमारे रुदन-हास्य की भाषा गौण। हमारे साहित्यिक दारिद्र्य का इससे बढ़कर अन्य प्रदर्शन क्या होगा।"

वास्तव में हिंदी भाषा और साहित्य का उत्थान-पतन प्रधानतया हिंदी भाषियों पर निर्भर है। हिंदी भाषा को जैसा रूप वे देंगे तथा उसके साहित्य को जितना ऊपर वे उठा सकेंगे उसके आधार पर ही अन्य प्रांतवासी राष्ट्रभाषा हिंदी को सीख सकेंगे व उसके संबंध में अपनी धारणा बना सकेंगे। इस समय भ्रमवश एक भिन्न परिस्थिति होने जा रही है। हिंदी-भाषियों को अपनी

भाषा आदि का रूप स्थिर करके राष्ट्रभाषा के हिमायतियों के सामने रखना चाहिए था। इस समय राष्ट्रभाषा-प्रचारक हिंदी का रूप स्थिर करके हम हिंदियों को भेंट करना चाहते हैं। इसका प्रधान कारण हमारा अपनी भाषा की ठीक सीमाओं को न समझना है। हिंदी भाषा और साहित्य अक्षयवट के समान है। मैं इसे अक्षयवट इसलिये कहता हूँ कि वास्तव में संस्कृत, पाली, प्राकृत, अपभ्रंश आदि पूर्वकालीन भाषाएँ तथा साहित्य हिंदी भाषा के ही पूर्व रूप हैं। हिंदी इनकी ही आधुनिक प्रतिनिधि तथा उत्तराधिकारिणी है। इस अक्षयवट की जड़ें, तना तथा प्रधान शाखाएँ आर्यावर्त्त के मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश में स्थित हैं, किंतु इस विशाल वटवृक्ष के स्निग्ध हरित पत्रों की छाया समस्त भारत को शीतलता प्रदान करती है। भारत के उपवन में इस अक्षयवट के चारों ओर बंगला, आसामी, उड़िया, तेलगू, तामिल आदि के रूप में अनेक छोटे-बड़े नए-पुराने वृक्ष भी हैं। हम सब के हितैषी हैं। किंतु भारतीय संस्कृति का मूल प्रतिनिधि तो यह वटवृक्ष ही है। इसके सींचने के लिये और सुदृढ़ करने के लिये वास्तव में इसकी जड़ों में पानी देने तथा इसके तने की रक्षा करने की आवश्यकता है। ऐसी अवस्था में, घर के मुखिया की तरह, इस सुदृढ़ वृक्ष की हरी-हरी पत्तिएँ उपवन के शेष वृक्षों की रक्षा, सूर्य के आतप तथा प्रचंड वायु के कोप से आप ही करती रहेंगी। आज हम मूल और शाखा में भेद नहीं कर पा रहे हैं। भारत के भिन्न-भिन्न प्रांतों में पाया जाने वाला हिंदी का राष्ट्रभाषा का स्वरूप तो अक्षयवट की शाखाओं और पत्तियों के समान है। यह शाखा-पत्र-समूह कपड़े लपेटने या पानी डालने से पुष्ट तथा हरा नहीं होगा, उसको पुष्ट करने का एक ही उपाय है जड़ को सींचना और तने की रक्षा करना। मेरी समझ में हिंदी भाषा और साहित्य के इन दो भिन्न क्षेत्रों को स्पष्ट रूप में समझ लेना अत्यंत आवश्यक है। हिंदी के घर में हिंदी को सुदृढ़ करना मुख्य कार्य है और हिंदी हितैषियों की शक्ति का प्रधान अंश इसमें व्यय होना चाहिए—'नष्टे मूले नैव पत्रं न शाखा'। अंतर्प्रांतीय भाषा के रूप में हिंदी का अन्य प्रांतों में प्रचार भावी भारत की दृष्टि से एक महत्व-पूर्ण समस्या है। यह क्षेत्र प्रधानतया राजनीतिज्ञों का है और इसका संबंध अन्य प्रांतों के हित-अनहित से भी है, अतः इस क्षेत्र में इस वर्ग के लोगों को कार्य करने देना चाहिए। हिंदी-भाषियों को तथा साहित्यिकों को इस क्षेत्र में काम करने

वालों की सहायता करने के लिये सदा सहर्ष रहना चाहिए, किंतु इस संबंध में हिंदी-भाषियों तथा साहित्यिकों को अपनी शक्ति का अपव्यय नहीं करना चाहिए।

हिंदी भाषा और साहित्य के संबंध में सिद्धांत संबंधी कुछ मूल समस्याओं की ओर मैंने आपका ध्यान आकर्षित किया है। यदि इन मूल भ्रमों का निवारण हो जावे तो हमारी अनेक कठिनाइयाँ सहसा स्वयं लुप्त हो जावेंगी। समयाभाव के कारण मैं विषय का विवेचन विस्तार के साथ तो नहीं कर सका किंतु मैंने अपने दृष्टिकोण को भरसक स्पष्ट शब्दों में रखने का उद्योग किया है। हमारी भाषा के उचित विकास तथा नव साहित्य निर्माण में और भी अनेक छोटी-छोटी बाधाएँ उपस्थित हैं। इनका संबंध प्रधानतया हिंदी-भाषियों से है। इनमें से भी कुछ के संबंध में मैं अपने विचार संक्षेप में आपके सामने विचारार्थ रखना चाहूँगा।

हिंदी भाषा और साहित्य के विकास में बाधक एक प्रधान समस्या हिंदी भाषी प्रदेश की द्विभाषा समस्या है। इस सत्य से आँख नहीं मीचना चाहिए कि साहित्य तथा संस्कृत की दृष्टि से हिंदी प्रदेश में हिंदी उर्दू के रूप में दो भाषाओं और साहित्यों की पृथक् धाराएँ बह रही हैं। पश्चिमी मध्यदेश अर्थात् पंजाब, दिल्ली, पश्चिमी संयुक्तप्रांत तथा राजस्थान के जयपुर आदि के राज्यों में तो उर्दू धारा आज भी पर्याप्त रूप में बलवती है किंतु शेष मध्यदेश में अर्थात् पूर्वी संयुक्तप्रांत, बिहार, मध्यभारत तथा महाकोसल में हिंदी का आधिपत्य जनता पर काफ़ी है। हिंदी प्रदेश की यह द्विभाषा समस्या एक असाधारण समस्या है क्योंकि बंगाल, गुजरात, तामिल, कर्नाटक आदि भारत के किसी भी अन्य भाषा-प्रदेश के सामने यह संकट कम से कम अभी तो वर्तमान नहीं है। उदाहरण के लिये बंगाली भाषा प्रत्येक बंगाली की अपनी प्रादेशिक भाषा है चाहे वह हिंदू, मुसलमान, ईसाई, बौद्ध, जैन कुछ भी हो। साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में मैं हिंदी-उर्दू मिलन को असंभव समझता हूँ—वास्तव में दोनों में ज़मीन-आसमान का अंतर है। हिंदी लिपि, शब्दसमूह, तथा साहित्यिक आदर्श वैदिक-काल से लेकर अपभ्रंश-काल तक की भारतीय संस्कृति से ओत-प्रोत हैं। उर्दू लिपि, शब्दसमूह तथा साहित्यिक आदर्श हिंदी प्रदेश में कल आए हैं और अभारतीय दृष्टिकोण से लबालब हैं। हिंदियों की साहित्यिक सांस्कृतिक भाषा केवल हिंदी है और हो सकती है। किंतु हिंदी के संबंध में एक भ्रम के निवारण की नितांत आवश्यकता है। वह यह

कि हिंदी हिंदुओं की भाषा न होकर हिंदियों की भाषा है। मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश में रहने वाले प्रत्येक हिंदी को—चाहे वह वैष्णव हो या शैव मुसलमान हो या ईसाई, पारसी हो या बंगाली—हिंदी भाषा, साहित्य और लिपि को अपनी चीज़ समझ कर सबसे पहले और प्रधान रूप में सीखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्गीय, प्रादेशिक या सांप्रदायिक लिपि तथा भाषा को भी सीखे इसमें आपत्ति नहीं किंतु उसका स्थान हिंदी प्रदेश में द्वितीय रह सकेगा, प्रथम नहीं। मेरी समझ में जिनकी मातृभाषा हिंदी है और जो यह समझते हैं कि वास्तव में हिंदी ही हिंदीप्रदेश की सच्ची साहित्यिक भाषा है उन्हें दूसरे पक्ष के सामने विनय के साथ, किंतु साथ ही दृढ़ता के साथ, अपने इस दृष्टिकोण को रखना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विशेषतया पश्चिमी हिंदी प्रदेश में हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रत्येक धर्म व जाति के लोगों में इस भावना का प्रचार करने का निरंतर उद्योग हो। मैं उर्दू के विरुद्ध नहीं हूँ किंतु मैं उर्दू को हिंदीप्रदेश में हिंदी के बराबर नहीं रख पाता हूँ। मैं उसे एक द्वितीय भाषा के रूप में ही सोच पाता हूँ। हिंदी-उर्दू की समस्या को हल करने का यही एक उपाय है। दूसरा उपाय उर्दू भाषा और लिपि को अपने प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान लेना है। राजनीतिक प्रभावों से असंभव भी संभव हो जाता है, किंतु अब तो देश की प्रगति स्वाभाविक अवस्था की ओर लौट रही है अतः इस अस्वाभाविक परिस्थिति की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

हिंदी भाषा और साहित्य की त्रुटियों में से एक त्रुटि यह बतलाई जाती है कि वह सर्व-साधारण की भाषा और साहित्यिक आदर्श से बहुत दूर है। उसे जनता के निकट लाना चाहिए। इसमें अंशतः सार है किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्यिक वर्ग तथा सर्व-साधारण में अंतर का कम होना देश के लिये सदा हितकर है; किंतु समस्त समाज को फलतः समस्त साहित्य को, एक श्रेणी के अंतर्गत ला सकना मेरी समझ में एक स्वप्न मात्र है। साहित्य को सर्व-साधारण के निकट ले चलने के उद्योग के साथ-साथ सर्व-साधारण की अभिरुचि तथा ज्ञान को ऊपर उठाना भी साहित्यिकों का कर्तव्य है। साहित्यकार सिनेमा और थियेटर कंपनियों की श्रेणी के व्यक्ति नहीं हैं जिनका प्रधान उद्देश्य सर्व-साधारण की माँग को पूरा करना मात्र होता है। साहित्यिकों का चरम उद्देश्य तो समाज को ऊपर उठाना है। मैं मानता

हूँ कि अनावश्यक रूप से भाषा और साहित्य को क्लिष्ट बनाना उचित नहीं है किंतु साथ ही शैली का नाश करके तथा साहित्यिक अभिरुचि को तिलांजलि देकर साहित्य को नीचे उतारने के पक्ष में भी मैं नहीं हूँ। भारतीय समाज के उच्चतम और नीचतम वर्गों में भाषा और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति संबंधी सभी बातों में पर्याप्त अंतर है। जैसे-जैसे यह संस्कृति संबंधी अंतर कम होता जावेगा, वैसे-वैसे हमारी सुसंस्कृत भाषा और हमारा उच्च-साहित्य भी सर्व-साधारण के निकट पहुँचता जावेगा। ऊपर के लोगों को नीचे झुकाने से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या नीचे के लोगों को ऊपर लाने की है—'कामायनी' को 'बनारसी कजलियों' के निकट ले जाने की अपेक्षा 'बनारसी कजली' पढ़ने वालों की अभिरुचि को 'कामायनी' की साहित्यिक अभिरुचि की ओर उठाने की विशेष आवश्यकता है।

हमारे साहित्य की प्रगति में बाधक तीसरा प्रधान कारण हमारे साहित्य निर्माताओं की आजीविका की समस्या है तथा प्रकाशकों के सामने पुस्तकों के खपत की समस्या है—'भूखे भजन न होय गोपाला'। वास्तव में हिंदी साहित्यकार जिस त्याग और तपस्या के साथ अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं वह किसी से छिपा नहीं है। देश के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में से बहुत से तो इंगलैंड के आर्थिक आदर्श से मिलती-जुलती सरकारी नौकरियों के प्रलोभन में फँस कर उस ओर खिंच जाते हैं और अपना बहुमूल्य जीवन विदेशी यंत्र के चलाने में एक निर्जीव पुर्ज़े के समान व्यतीत कर देते हैं। देश के बचे-खुचे मस्तिष्क राष्ट्रीय सेवा की ओर झुकते हैं और इन सेवाओं में से एक अपने साहित्य की सेवा भी है। हिंदी साहित्यकार को सरकारी वेतनों के टक्कर की आमदनी नहीं चाहिए—लक्ष्मी और सरस्वती का साथ कब हुआ है—किंतु साधारण रोटी-मकान-कपड़े की चिंता से मुक्त होना तो आवश्यक ही है चाहे ज्वार की रोटी, छप्पर का मकान और खादी का कपड़ा ही क्यों न हो। बच्चों की शिक्षा और बीमारी, माता-पिता की असहाय अवस्था तथा स्त्री के कार्य भार बँटाने का कुछ साधारण उपाय तो होना ही चाहिए। निकट भविष्य में इस कठिनाई से निस्तार होता दिखलाई नहीं पड़ता, किंतु साहित्य की खपत के बढ़ने तथा सुसंगठित प्रकाशन संस्थाओं के पैदा होने से यह समस्या धीरे-धीरे दूर हो सकेगी। प्रकाशकों से मुझे एक निवेदन करना है। अमीर इंगलैंड की अंग्रेज़ी किताबों का ठाट-बाट हम लोगों के यहाँ नहीं निभ

कि हिंदी हिंदुओं की भाषा न होकर हिंदियों की भाषा है। मध्यदेश अथवा हिंदी प्रदेश में रहने वाले प्रत्येक हिंदी को—चाहे वह वैष्णव हो या शैव मुसलमान हो या ईसाई, पारसी हो या बंगाली—हिंदी भाषा, साहित्य और लिपि को अपनी चीज़ समझ कर सबसे पहले और प्रधान रूप में सीखना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वर्गीय, प्रादेशिक या सांप्रदायिक लिपि तथा भाषा को भी सीखे इसमें आपत्ति नहीं किंतु उसका स्थान हिंदी प्रदेश में द्वितीय रह सकेगा, प्रथम नहीं। मेरी समझ में जिनकी मातृभाषा हिंदी है और जो यह समझते हैं कि वास्तव में हिंदी ही हिंदीप्रदेश की सच्ची साहित्यिक भाषा है उन्हें दूसरे पक्ष के सामने विनय के साथ, किंतु साथ ही दृढ़ता के साथ, अपने इस दृष्टिकोण को रखना चाहिए। आवश्यकता इस बात की है कि विशेषतया पश्चिमी हिंदी प्रदेश में हिंदू, मुसलमान, ईसाई आदि प्रत्येक धर्म व जाति के लोगों में इस भावना का प्रचार करने का निरंतर उद्योग हो। मैं उर्दू के विरुद्ध नहीं हूँ किंतु मैं उर्दू को हिंदीप्रदेश में हिंदी के बराबर नहीं रख पाता हूँ। मैं उसे एक द्वितीय भाषा के रूप में ही सोच पाता हूँ। हिंदी-उर्दू की समस्या को हल करने का यही एक उपाय है। दूसरा उपाय उर्दू भाषा और लिपि को अपने प्रदेश की साहित्यिक भाषा मान लेना है। राजनीतिक प्रभावों से असंभव भी संभव हो जाता है, किंतु अब तो देश की प्रगति स्वाभाविक अवस्था की ओर लौट रही है अतः इस अस्वाभाविक परिस्थिति की कल्पना करना भी व्यर्थ है।

हिंदी भाषा और साहित्य की त्रुटियों में से एक त्रुटि यह बतलाई जाती है कि वह सर्व-साधारण की भाषा और साहित्यिक आदर्श से बहुत दूर है। उसे जनता के निकट लाना चाहिए। इसमें अंशतः सार है किंतु यह पूर्ण सत्य नहीं है। साहित्यिक वर्ग तथा सर्व-साधारण में अंतर का कम होना देश के लिये सदा हितकर है; किंतु समस्त समाज को फलतः समस्त साहित्य को, एक श्रेणी के अंतर्गत ला सकना मेरी समझ में एक स्वप्न मात्र है। साहित्य को सर्व-साधारण के निकट ले चलने के उद्योग के साथ-साथ सर्व-साधारण की अभिरुचि तथा ज्ञान को ऊपर उठाना भी साहित्यिकों का कर्तव्य है। साहित्यकार सिनेमा और थियेटर कंपनियों की श्रेणी के व्यक्ति नहीं हैं जिनका प्रधान उद्देश्य सर्व-साधारण की माँग को पूरा करना मात्र होता है। साहित्यिकों का चरम उद्देश्य तो समाज को ऊपर उठाना है। मैं मानता

हूँ कि अनावश्यक रूप से भाषा और साहित्य को क्लिष्ट बनाना उचित नहीं है किंतु साथ ही शैली का नाश करके तथा साहित्यिक अभिरुचि को तिलांजलि देकर साहित्य को नीचे उतारने के पक्ष में भी मैं नहीं हूँ। भारतीय समाज के उच्चतम और नीचतम वर्गों में भाषा और साहित्य के अतिरिक्त संस्कृति संबंधी सभी बातों में पर्याप्त अंतर है। जैसे-जैसे यह संस्कृति संबंधी अंतर कम होता जावेगा, वैसे-वैसे हमारी सुसंस्कृत भाषा और हमारा उच्च-साहित्य भी सर्व-साधारण के निकट पहुँचता जावेगा। ऊपर के लोगों को नीचे झुकाने से अधिक महत्त्वपूर्ण समस्या नीचे के लोगों को ऊपर लाने की है—'कामायनी' को 'बनारसी कजलियों' के निकट ले जाने की अपेक्षा 'बनारसी कजली' पढ़ने वालों की अभिरुचि को 'कामायनी' की साहित्यिक अभिरुचि की ओर उठाने की विशेष आवश्यकता है।

हमारे साहित्य की प्रगति में बाधक तीसरा प्रधान कारण हमारे साहित्य निर्माताओं की आजीविका की समस्या है तथा प्रकाशकों के सामने पुस्तकों के खपत की समस्या है—'भूखे भजन न होय गोपाला'। वास्तव में हिंदी साहित्यकार जिस त्याग और तपस्या के साथ अपना जीवन निर्वाह कर रहे हैं वह किसी से छिपा नहीं है। देश के सर्वोत्तम मस्तिष्कों में से बहुत से तो इंगलैंड के आर्थिक आदर्श से मिलती-जुलती सरकारी नौकरियों के प्रलोभन में फँस कर उस ओर खिंच जाते हैं और अपना बहुमूल्य जीवन विदेशी यंत्र के चलाने में एक निर्जीव पुर्ज़े के समान व्यतीत कर देते हैं। देश के बचे-खुचे मस्तिष्क राष्ट्रीय सेवा की ओर झुकते हैं और इन सेवाओं में से एक अपने साहित्य की सेवा भी है। हिंदी साहित्यकार को सरकारी वेतनों के टक्कर की आमदनी नहीं चाहिए—लक्ष्मी और सरस्वती का साथ कब हुआ है—किंतु साधारण रोटी-मकान-कपड़े की चिंता से मुक्त होना तो आवश्यक ही है चाहे ज्वार की रोटी, छप्पर का मकान और खादी का कपड़ा ही क्यों न हो। बच्चों की शिक्षा और बीमारी, माता-पिता की असहाय अवस्था तथा स्त्री के कार्य भार बँटाने का कुछ साधारण उपाय तो होना ही चाहिए। निकट भविष्य में इस कठिनाई से निस्तार होता दिखलाई नहीं पड़ता, किंतु साहित्य की खपत के बढ़ने तथा सुसंगठित प्रकाशन संस्थाओं के पैदा होने से यह समस्या धीरे-धीरे दूर हो सकेगी। प्रकाशकों से मुझे एक निवेदन करना है। अमीर इंगलैंड की अंग्रेज़ी किताबों का ठाट-बाट हम लोगों के यहाँ नहीं निभ

सकता। मैंने फ्रांस जैसे सुसंपन्न देश तक में यह देखा कि किताबों को सस्ता रखने के उद्देश्य से छपाई काग़ज़ तथा जिल्द आदि पर वे लोग कम से कम व्यय करते हैं—हाँ पुस्तक शुद्ध तथा कलापूर्ण ढंग से छापने में वे किसी प्रकार की कमी नहीं होने देते। हमें भी अपनी पुस्तकों को बहुत सस्ता करने की ज़रूरत है। अपने देश की ग़रीबी को देखकर आदर्श रूप में तो एक पाई का दैनिक पत्र तथा)। पैसे की साधारण पुस्तक मिलनी चाहिए। मैं जानता हूँ कि अभी यह बात असंभव है, किंतु)। पैसे का अच्छा दैनिक तथा ~) से ।) मूल्य तक की अच्छी पुस्तक संभव है। १) मूल्य रख कर—जिसे हम लोग प्रायः कम समझते हैं—हम अपने साहित्य को ३०) मासिक पाने वाले क्लर्क तक भला कैसे पहुँचा सकते हैं। फिर हमारी अधिकांश जनता की आमदनी तो ३०) मासिक न होकर कदाचित् ३०) वार्षिक है। जो हो हमारी पुस्तकों के सस्ते से सस्ते, किंतु साथ ही शुद्ध संस्करण, निकलने चाहिए। इसमें प्रकाशक, लेखक तथा जनता सब ही का हित है।

मैंने साहित्य के आदर्शों तथा मनोरम रहस्यों की ओर आपका ध्यान जान-बूझकर नहीं दिलाया है। इस प्रकार की वार्त्तालाप का स्थान तो शिक्षालयों और विद्यापीठों में है, साहित्यिकों का यह मेला इसके लिये उपयुक्त स्थान नहीं है। गत वर्षों में प्रकाशित हिंदी साहित्य की आलोचना भी मैंने आपके सामने जान-बूझकर ही नहीं रखी है। यह कार्य हमारी पत्र-पत्रिकाएँ, आलोचनात्मक ग्रंथ तथा साहित्यिक संस्थाओं के वार्षिक विवरण करते ही रहते हैं, अतः हम और आप साधारणतया इससे परिचित हैं ही। फिर हमारे पास इतना अवकाश भी तो नहीं है। इसी कारण मैंने कुछ मूल कठिनाइयों और समस्याओं तक अपने वक्तव्य को सीमित रखा है।

संभव है कि मेरे इस भाषण से कुछ लोगों को यह भ्रम हुआ हो कि हम साहित्यिक लोग देश की राजनीतिक समस्याओं तथा उस क्षेत्र में कार्य करने वालों की सेवाओं को उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। ऐसा कदापि नहीं है। वास्तव में देश की राजनीतिक समस्या हमारे जीवन-मरण की समस्या है, किंतु साथ ही भाषा और साहित्य की समस्या भी कम गंभीर समस्या नहीं है। सुसाहित्य तथा उसकी शिक्षा के अभाव में ही हमारी दीर्घकालीन राजनीतिक परतंत्रता के मूल कारण संनिहित है। वास्तव में साहित्य मनुष्य की संस्कृति का विधाता है, और राजनीति इस व्यापक संस्कृति का एक अंग

मात्र है। मैं राष्ट्र के सिपाही को अत्यंत आदर की दृष्टि से देखता हूँ, किंतु मैं देश के साहित्यकार को और भी अधिक सम्मान की दृष्टि से देखता हूँ। सिपाही देश के धन जन की रक्षा या नाश करने वाला है, किंतु साहित्यकार तो राष्ट्र के मन, मस्तिष्क और आत्मा को बनाने-बिगाड़ने वाला है। राजनीतिज्ञ का महत्व देश काल से सीमित है, किंतु साहित्यकार के हाथ में तो संसार का भूत, वर्त्तमान तथा भविष्य सब ही कुछ है। अपने देश की स्वतंत्रता के प्रयास के इस असाधारण युग में हमें 'यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।' आदि इस वेद वाक्य को और भी स्मरण रखने की आवश्यकता है, नहीं तो यूरोपीय परिस्थिति की पुनरावृत्ति होने की अपने यहाँ भी पूर्ण आशंका है। ब्रह्म अर्थात् साहित्य मस्तिष्क और आँख हैं, क्षत्र अर्थात् राजनीति स्कंध और बाहु-बल हैं। दोनों ही का सदुपयोग तथा दुरुपयोग हो सकता है, किंतु साहित्य का दुरुपयोग बहुत अधिक भयंकर परिणाम वाला होता है इसे कभी भी नहीं भुलाना चाहिए।

अंत में मैं हिंदी प्रेमियों और हिंदी साहित्यकारों का ध्यान अपनी भाषा और साहित्य के संबंध में आत्मनिर्भरता की भावना की ओर आकृष्ट करना चाहता हूँ। घमंड और उचित गर्व तथा आत्मविश्वास में अंतर है। मैं दूसरी बात चाहता हूँ, पहली नहीं। हमें अपनी भाषा और अपने साहित्य का आदर करना सीखना चाहिए। उसकी त्रुटियों को समझते हुए और उनके दूर करने का यत्न करते हुए, उसके गुणों का हमें प्रकाशन करना चाहिए, एक दूसरे को ऊपर उठाने का यत्न करना चाहिए। परंपरा तथा अज्ञान के कारण अपने साहित्य के निंदकों का हमें मुँह बंद करना चाहिए। हमारा खड़ी बोली हिंदी साहित्य अभी है ही कितने दिनों का, किंतु इतने अल्पकाल में ही वह कितना आगे बढ़ गया है इस पर वास्तव में अभी प्रकाश ही नहीं डाला गया है। इधर कुछ वर्षों के अंदर जो ग्रंथ निकले हैं उनमें दर्जनों ऐसे हैं जो उच्चतम साहित्य की श्रेणी में स्थान पाने योग्य हैं। मैं बड़े-बड़े लेखकों के नामों और बड़े-बड़े ग्रंथों को यहाँ नहीं गिनाना चाहता। मुझे तो अपने साहित्य में अपनी और आगे की पीढ़ी के लेखकों की रचनाओं में ही ऐसे अनेक ग्रंथों का स्मरण आ रहा है जिनके रस-सौंदर्य तथा शैली-सौंदर्य का लोहा बड़े से बड़े साहित्यिकों को मानना पड़ेगा। जैनेंद्रकुमार की परख' को जिसने पढ़ा होगा वह क्या कट्टो को कभी भी भुला सकता है।

भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की कल्पना में कितनी उड़ान और पूर्णता है, हरिकृष्ण प्रेमी के 'अनंत के पथ पर' शीर्षक खंड-काव्य की रसानुभूति और प्रवाह असाधारण श्रेणी में रखने योग्य हैं। सुमित्रानंदन पंत की एक-एक रचना की बारीकी सांची के तोरणों की नक्काशी का स्मरण दिलाती है। यदि मैं इस तरह गिनाता चलूँ तो कदाचित् इस सूची का कभी अंत ही न हो। वास्तव में इस समय आलोचना करने की अपेक्षा हमें अपने साहित्य के रसास्वादन के अभ्यास की बहुत अधिक आवश्यकता है।

कठिनाइयों के रहते हुए भी हमें क्षण भर भी हताश नहीं होना चाहिए। हिंदी भाषा और साहित्य ने तो जन्म से ही अपने पैरों पर खड़ा होना सीखा है। असाधारण विरोधी परिस्थितियों तक में हम अपनी पताका फहराते रहे हैं। शासक-वर्ग की सहायता तो हमें कभी मिली ही नहीं। हिंदी प्रदेश के दरबारों में जब फ़ारसी राजभाषा थी उस समय हमने सूर, कबीर और तुलसी पैदा किए थे। फ़ारसी आई और चली गई किंतु सूर-तुलसी-कबीर अमर हैं। हमारे प्रदेश में जब अंग्रेज़ी राजभाषा हुई तब हमने अपनी तपस्या से रत्नाकर, प्रसाद और प्रेमचंद जैसे रत्न उत्पन्न किए। अंग्रेज़ी जा रही है किंतु यह निश्चय है कि हमारे इन रत्नों की चमक दिन-दिन बढ़ती जावेगी। आज भी राजनीतिक परिस्थिति हमारी भाषा और साहित्य के लिये पूर्णतया अनुकूल नहीं है किंतु हमें इसकी क्षण भर भी चिंता नहीं करनी चाहिए। यदि हमारा आत्मविश्वास कायम रहा, यदि हमारे हृदयों में भारतीय संस्कृति का चिराग़ जलता रहा तो मध्यदेश के इस बलवान स्रोत के नित्य प्रवाह को संसार की कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती।

भगवतीचरण वर्मा की 'चित्रलेखा' की कल्पना में कितनी उड़ान और पूर्णता है, हरिकृष्ण प्रेमी के 'अनंत के पथ पर' शीर्षक खंड-काव्य की रसानुभूति और प्रवाह असाधारण श्रेणी में रखने योग्य हैं। सुमित्रानंदन पंत की एक-एक रचना की बारीकी सांची के तोरणों की नक्काशी का स्मरण दिलाती है। यदि मैं इस तरह गिनाता चलूँ तो कदाचित् इस सूची का कभी अंत ही न हो। वास्तव में इस समय आलोचना करने की अपेक्षा हमें अपने साहित्य के रसास्वादन के अभ्यास की बहुत अधिक आवश्यकता है।

कठिनाइयों के रहते हुए भी हमें क्षण भर भी हताश नहीं होना चाहिए। हिंदी भाषा और साहित्य ने तो जन्म से ही अपने पैरों पर खड़ा होना सीखा है। असाधारण विरोधी परिस्थितियों तक में हम अपनी पताका फहराते रहे हैं। शासक-वर्ग की सहायता तो हमें कभी मिली ही नहीं। हिंदी प्रदेश के दरबारों में जब फ़ारसी राजभाषा थी उस समय हमने सूर, कबीर और तुलसी पैदा किए थे। फ़ारसी आई और चली गई किंतु सूर-तुलसी-कबीर अमर हैं। हमारे प्रदेश में जब अंग्रेज़ी राजभाषा हुई तब हमने अपनी तपस्या से रत्नाकर, प्रसाद और प्रेमचंद जैसे रत्न उत्पन्न किए। अंग्रेज़ी जा रही है किंतु यह निश्चय है कि हमारे इन रत्नों की चमक दिन-दिन बढ़ती जावेगी। आज भी राजनीतिक परिस्थिति हमारी भाषा और साहित्य के लिये पूर्णतया अनुकूल नहीं है किंतु हमें इसकी क्षण भर भी चिंता नहीं करनी चाहिए। यदि हमारा आत्मविश्वास कायम रहा, यदि हमारे हृदयों में भारतीय संस्कृति का चिराग़ जलता रहा तो मध्यदेश के इस बलवान स्रोत के नित्य प्रवाह को संसार की कोई भी शक्ति रोक नहीं सकती।